आधुनिक कहानी का परिपार्श्व

भूमिका

●

संप्रति तथाकथित 'नई' कहानी बहुत चर्चा का विषय बनी हुई है कहानीकारों और आलोचकों की तरफ़ से तरह-तरह के विचार प्रकट किए जा रहे हैं, जिनमें कुछ तर्कों पर आधारित हैं और कुछ में प्रचार की गंध आती है। प्रस्तुत पुस्तक में यह मानकर चला गया है कि स्वातंत्र्योत्तर काल की हिन्दी कहानी में कथ्य तथा कथन दोनों ही दृष्टियों से अनेक परिवर्तन हुए हैं, पर उसे 'नई' की संज्ञा देना उचित नहीं है। ऐसे परिवर्तन प्रत्येक काल में होते हैं और साहित्यिक विधाओं के विकास का यह स्वाभाविक चरण होता है। १९४७ के पश्चात् हिन्दी कहानियों में हुए परिवर्तनों को भी इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए और बेकार के विवादों से बचकर कहानी विधा की ओर ही ध्यान देना अधिक उचित होगा।

पिछले पन्द्रह वर्षों के लगभग सभी महत्वपूर्ण कहानीकारों की रचनाओं को पढ़ने के पश्चात् मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अब व्यष्टि-चिन्तन को ही अधिक प्रमुखता प्रदान की जाती है और दोनों ही दशकों में (१९५०–६० तथा १९६०—अब तक) आत्मपरकता का ही प्रभुत्व रहा है। कुछ कहानीकारों को छोड़कर वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति की कुंठा, अनास्था एवं नैराश्य को (जो निश्चय ही देश की जीवन-पद्धति की मौलिक उद्भावना नहीं है, वरन् पश्चिम से काफ़्का, कामू एवं सार्त्र आदि से उधार ली हुई है) ही बहुसंख्यक कहानियों में चित्रित करने की चेष्टा की गई है, हालाँकि उनके लिए 'मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने की चेष्टा' या 'सामाजिक दायित्व के

निर्वाह की भावना से ओत-प्रेत चेष्टा' का दावा किया गया है। वास्तव में व्यक्ति भी महत्वपूर्ण है और समाज भी। कोरा व्यक्ति और उसकी केवल अपने प्रतिनिष्ठा पशुत्व है। उसकी अपने में कोई सार्थकता नहीं। और, कोरा समाज दीमकों का ढेर है। कलाकार को दोनों में सन्तुलन स्थापित करने का कठिन कार्य सम्पन्न करना होता है, क्योंकि दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इस दृष्टि से प्रसिद्ध यूरोपीय दार्शनिक कैण्ट के 'unsociable sociability' शब्द ध्यान में रखने योग्य हैं। यद्यपि हिन्दी के आधुनिकतम कहानीकारों ने सामाजिक यथार्थ को और मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं को उसके बहुविधिय परिपार्श्व में चित्रित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु सब मिलाकर आत्मपरक विश्लेषण की तुलना में उसका स्वर सशक्त नहीं बन पाया है। देखा यही जाता है कि वह एक नारा बन गया है, जो प्रत्येक लेखक की प्रतिबद्धता में शामिल है और उस नारे को मान्यता पाने का अस्त्र समझकर सभी कहानीकार इस विधा में आए हैं, किन्तु आज के राजनीतिक खिलाड़ियों की भाँति उन्हें अपनी प्रतिबद्धता बदलते देर नहीं लगी है। यह देखकर मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि तमाम लम्बी-चौड़ी बातों के बावजूद, हम प्रेमचन्द जैसा व्यक्तित्व उत्पन्न करने में असफल रहे हैं। हाँ, दो-तीन कहानीकारों में प्रेमचन्द जैसी मानवीय संवेदनशीलता, यथार्थ चित्रण एवं मानवतावादी दृष्टिकोण अवश्य ही विकसित हो रहा है, पर अभी से उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय देना उचित नहीं होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में पिछले पन्द्रह वर्षों के प्रमुख कहानीकारों की उपलब्धियों के आधार पर ही आज की कहानी का विवेचन करने की चेष्टा की गई है। इसमें सभी कहानीकारों की सूची देना कोई उद्देश्य नहीं रहा, किन्तु प्रयास यही रहा है कि दोनों ही दशकों के महत्वपूर्ण कहानीकार छूटने न पाएँ। हो सकता है कुछ कहानीकार पुस्तक में अपने नाम न पाकर आक्रोश प्रकट करने लगें। किन्तु मैं उनकी उदारता की

१

पृष्ठभूमि

हिन्दी कथा-साहित्य का आविर्भाव कदाचित् उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। अनेक दृष्टियों से उन्नीसवीं शताब्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय स्थान रखती है। इस काल में यद्यपि एक लम्बी दासता को ही प्रसार मिला, किन्तु अभी तक के विदेशी शासनों में सर्वाधिक आधुनिक चेतना-सम्पन्न और नवोन्मेष की भावना से पूरित शासन के संपर्क में आने के पश्चात् नवीनता की ओर गतिशील होने को व्याकुल भारतीय संचेतना को एक प्रकार से दिशा मिली और यहाँ के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में चतुर्मुखी परिवर्तन हुए। उन्नीसवीं शताब्दी की यह एक महान् उपलब्धि है। देशी और विदेशी (विशेषतः अँगरेजी) साहित्य की श्रेष्ठ परंपराओं को आत्मसात् कर लेने का परिणाम उसी समय श्रेयस्कर एवं रुचिकर प्रतीत होने लगा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विविध रचनाएँ, भूमिकाएँ एवं उनके भाषण इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। सच बात तो यह है कि इस नवजागरण-काल ने जिस भारतीय जन को जन्म दिया, उसने पूरी शक्ति, उमंग और आत्मरक्षा की भावना के साथ अपने युग की चुनौती स्वीकार की। हिन्दी की नवीन साहित्यिक चेतना के मूल में बाह्याक्रमणों का अभाव, आंतरिक शान्ति, वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगीकरण का प्रचार, शिक्षित जन-संख्या में वृद्धि, 'राजा कृष्ण समान' वाली भावना के स्थान पर जनसत्तात्मक मानव-सापेक्ष्य उदार विचारधारा और मध्यम वर्ग का जन्म, दास-प्रथा का निषेध, स्त्रियों तथा समाज के अन्य उपेक्षित समुदायों में शिक्षा का प्रचार और

सांस्कृतिक खोजों एवं पुरातत्व विभाग द्वारा प्राचीन कलात्मक वस्तुओं के संरक्षण के फलस्वरूप प्राप्त आत्म-चेतना और आत्म-ज्ञान, ये प्रधान कारण थे। इन कारणों से साहित्य सम्बन्धी ग्रंथों के प्रकाशन में अभूत-पूर्व वृद्धि हुई और साहित्य के ऐसे रूपों और आदर्शों पर बल दिया जाने लगा जो जन-साधारण में प्रचलित हो सकते थे। काव्य का महत्व न्यून होने लगा। महाकाव्य एवं नीति-काव्य का कोई स्थान न रह गया। उनका स्थान कथा-साहित्य ने प्रमुखतः लिया।

यद्यपि यह निर्विवाद है कि कथा-साहित्य का जन्म नवीन सुधार-वादी एवं राजनीतिक आन्दोलनों के क्रोड़ में हुआ था, तो भी कथा साहित्य ने सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का प्रचार करने में अपना विशेष योग दिया और कथा-साहित्य ने नवीन आन्दोलनों का अनुसरण करते हुए भी नवोत्पन्न मध्य वर्ग के मनोरंजन का विशेष ध्यान रखा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में हिन्दी में जिस ऐयारी और जासूसी कथा-साहित्य की परम्परा का आविर्भाव हुआ, उससे इस बात का संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक कथाकारों की मूल दृष्टि कहाँ केन्द्रित थी। इस कथा-साहित्य का प्रणयन भी विषय और कला दोनों ही दृष्टि-कोणों से समाज के सामान्य स्तर की ओर इंगित करता है। राज-दरबारों से निकल कर साहित्य का समाज के व्यापक जीवन की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही था। उस समय उसमें वह परिष्कार, वह निखार और कलात्मकता नहीं आ सकती थी, जो मध्ययुगीन राजाश्रय-प्राप्त ब्रजभाषा काव्य-साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इतने पर भी उसमें उमंग और उत्साह प्राप्त होता है, आगे गतिशील होने की क्षमता परिलक्षित होती है और आत्म-चेतना के दर्शन होते हैं। यह क्या कम है ?

उन्नीसवीं शताब्दी में उद्भूत नवीन राजनीतिक, आर्थिक, सामा-जिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, शिक्षा-सम्बन्धी आदि शक्तियों का समष्टिगत प्रभाव यह हुआ कि देश का ध्यान यदि एक ओर पिछली अराजकता,

धार्मिक एवं सामाजिक ह्रास, विदेशियों द्वारा सब प्रकार के शोषण और स्वयं अपनी चरित्रगत एवं मानसिक दुर्बलताओं की ओर गया, तो दूसरी ओर अपने महान् गौरवपूर्ण प्राचीन के साथ-साथ तड़ित्तेजन-सम्पन्न नवीन आयामों की ओर उन्मुख हुआ। वह या तो अपने गौरव-पूर्ण अतीत को भूलकर पश्चिम का अन्धानुकरण करता, या नवीन शक्तियों के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव ग्रहण करता—जैसा बहुत दिनों तक मुसलमानों ने किया। किन्तु समन्वय तो भारतीय जीवन का सारभूत अंश रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की प्राचीन संस्कृति ही जैसे नवीन रूप धारण कर अवतरित हो रही थी। इस समय ज्ञान की परिधि का विस्तार हुआ और सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों, कालानुसार राष्ट्रीयता, देश की एकता, नवीन नैतिकता, स्त्री-शिक्षा, आर्थिक चेतना, भाषोन्नति और मानव-सापेक्ष्य नींव पर आधारित आत्मिक उत्थान की चेष्टा के फलस्वरूप चतुर्दिक सक्रियता दृष्टिगोचर होने लगी। कुछ लोगों ने तो उत्तर-मध्ययुगीन अंध-विश्वासों, पुराण पंथ, कुरीतियों एवं कुप्रथाओं को बनाए रखने की चेष्टा अवश्य की, किन्तु असफलता एवं निराशा के सिवाय उनके हाथ कुछ न लगा। भ्रष्ट लोक-परम्पराओं के स्थान पर स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित करने के पुनीत प्रयास का उस समय जन्म हुआ। राष्ट्रीय जीवन के लगभग सभी जीर्णशीर्ण अंगों का इतने संकल्पात्मक रूप में विच्छेद करने का व्यापक प्रयास संभवतः पहले कभी नहीं हुआ था। बीसवीं शताब्दी भारत की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं का वपन-काल होने की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का निश्चय ही अत्यधिक महत्त्व है। वह भारत का नव-जागरण काल था। उस समय उसने अपने को ही नहीं, दुनिया को नई दृष्टि से देखना सीखा। ऐसे समय में हिन्दी कथा-साहित्य का जन्म होना विशेष महत्त्व रखता है। नव-जागरण की इन प्रवृत्तियों का उसके प्रारम्भिक स्वरूप पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

यह तो मूल बातें हुई। कथा-साहित्य के अविर्भाव के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं जातीय पृष्ठभूमि को विस्तार से समझ लेना इसलिए भी आवश्यक है कि जीवन के व्यापक परिवेश की यथार्थता से सम्बद्ध होकर ही आधुनिक कहानी की आत्म-चेतना विकसित हुई है और पूरे ५०-६० वर्षों में उन मुख्य तत्त्वों का विस्तार ही आधुनिक कहानी की मूल पृष्ठभूमि है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अन्तिम पच्चीस-तीस वर्षों में, जब ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति खूब फूली-फली, किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने का कोई प्रयत्न न हुआ; केवल ईस्ट इंडिया कंपनी और सम्राज्ञी के शासन .काल के पिछले वर्षों से चले आ रहे सिद्धान्तों और कायदे-क़ानूनों का ही थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ व्यवहार होता रहा। सरकारी नीति के फलस्वरूप जनता का लगान के निश्चित सिद्धान्त से भी कहीं अधिक आर्थिक शोषण होने लगा; जनता की निर्धनता दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। निर्धनता के बढ़ने से जनता के सामान्य सांस्कृतिक जीवन पर घातक प्रभाव पड़े बिना न रह सका। वास्तव में सरकार की कर-निर्धारण नीति की अनिश्चितता और जमीन का ठीक-ठीक मूल्य-निर्धारण न होने के कारण जनता आर्थिक अत्याचार से पिसती रहती थी। प्रायः अमीरों की तरह शान-शौकत से रहने वाले ज़मींदारों को ही सरकार ने अपने राजनीतिक पुनर्निर्माण की आधार-शिला बनाया। विभिन्न व्यवस्थाओं और ऐक्टों के फलस्वरूप कुलीनवंशीय ज़मींदारों और किसानों के बीच की प्राचीन सौहार्द-भावना लुप्त हो गई और अनेक पारस्परिक झगड़े खड़े हो गए जिनसे किसान का धन कचहरियों में भी खर्च होने लगा। सरकारी नीति से न तो कृषि की उन्नति हुई और न किसानों के धन की वृद्धि हुई। किसान ज़मीन को अपनी न समझकर विदेशी शासकों की समझने लगा और महाजनों के चगुंल में फंस गया। संसार के समस्त सभ्य देशों में से भारतीय किसान की सबसे अधिक निर्धनता आज

उसकी शारीरिक, भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में बाधा बनी हुई है।

अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण यदि एक ओर भारतवर्ष की कृषि-संपत्ति का ह्रास हुआ, तो दूसरी ओर उद्योग-धंधे और वाणिज्य व्यवसाय पूर्ण रूप-से नष्ट हो गए। उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के एकमात्र साधन कृषि के ह्रास से भी अधिक भयावह परिणाम हुए। यहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति का भी उचित रूप में प्रयोग नहीं किया गया। यह स्मरण रखना चाहिए कि पूँजीवादी-साम्राज्यशाही सभ्यता ने भारत में वैज्ञानिक साधनों का वहीं तक प्रचार किया जहाँ तक उसे आर्थिक या सैनिक लाभ होने की सम्भावना थी। नहरों से पैदावार बढ़ी, पर किसानों में खेती करने के नवीन वैज्ञानिक साधनों का प्रचार न किया गया। रेलों के प्रचार से माल के एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में खर्च की कमी और सुविधा हुई, पर उससे जिस नवीन औद्योगिक संगठन की आवश्यकता थी, उस ओर बिल्कुल ध्यान न दिया गया। मिल और कारखाने भी इस ढंग से स्थापित किए गए कि भारत के लोग अधिकाधिक साम्राज्यवादी आर्थिक नीति पर निर्भर रहें। प्रत्येक उपनिवेश में साम्राज्यवादी सभ्यता की यही नीति रही है। थोड़े से नए उद्योग-धन्धों तथा चाय, सन आदि की पैदावार बढ़ाने में विदेशी पूँजी का ही अधिक भाग था। अधिकांश मुनाफ़ा विदेशी पूँजीपतियों के हाथ चला जाता था। भारत के परम्परागत उच्च श्रेणी के व्यापारी वर्ग को इन उद्योग-धन्धों और वाणिज्य-व्यवसाय से लाभ अवश्य हुआ, किन्तु उससे जन-साधारण की निर्धनता की समस्या हल न हो सकी। कुछ लाख श्रमिकों को काम मिल जाने से भी राष्ट्रीय आय में कोई वृद्धि न हुई। उद्योग-धन्धों के नष्ट होने से कृषि-क्षेत्र में संकट उपस्थित हो ही गया था। उद्योग-धन्धों के नष्ट और कृषि-कर्म के प्रधान हो जाने के मुख्य कारणों के अतिरिक्त कृषि की प्रगति के साधनों का अभाव, भारत सरकार का इँगलैण्ड में शासन-व्यय तथा अन्य अनेक प्रकार के कर्ज़ों,

ब्रिटिश अफ़सरों की पेंशन, रुपए की कृत्रिम विनिमय दर और इसका भारतीय उद्योग-धन्धों और व्यवसाय पर घातक प्रभाव, वकालत, डॉक्टरी और शुद्ध साहित्यिक शिक्षा को छोड़कर उद्योग-धन्धों-सम्बन्धी शिक्षा का अभाव, शिक्षित समुदाय में बेकारी की उत्तरोत्तर वृद्धि, सैनिक-व्यय, प्रान्तीय करों आदि कारणों से भारतीय निर्धनता और भी बढ़ी। इससे जनता के आर्थिक शोषण और दुरवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दुरवस्था का देश के सांस्कृतिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ा होगा, वह सोचने योग्य है। और प्रश्न केवल निर्धनता का ही नहीं था, वरन् साधारण-से-साधारण किसान और मज़दूर की शिक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी जिसकी ओर शासकों ने बिल्कुल ध्यान न दिया। यहीं से स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में इस आन्दोलन के प्रारम्भिक रूप ने अच्छी प्रगति कर ली थी।

अभी तक यातायात के साधन प्रायः नहीं के बराबर थे। पर शीघ्र ही रेल, तार, डाक और सड़कों की ओर भी डलहौज़ी ने ध्यान दिया। सैनिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् व्यापारिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। उनके समय में बम्बई, कलकत्ता और लाहौर को जोड़ते हुए रेलवे कम्पनियों ने रेलें बनाना शुरु कर दिया था। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर तारों की प्रबल शक्ति का भी प्रबंध किया गया। यातायात के इन साधनों का देश के साधारण जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था, पर कंपनी के शासन का अन्त हो जाने के पश्चात् ही नवीन वैज्ञानिक साधनों का वास्तविक प्रभाव दृष्टिगोचर हो सका। इन साधनों से भारतीय पत्रकार-कला और फलतः गद्य की उन्नति हुई। यातायात के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के साथ-साथ अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा भी एकता का सूत्रपात हुआ और भविष्य के लिए भारतीय प्रगति की अच्छी आशा बँध गई। पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य का ही भारतीय विचार-धारा पर प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् रेल और समुद्र-यात्रा से हिन्दुओं के सामाजिक प्रतिबन्ध भी शिथिल होने लगे।

उधर पाश्चात्य विद्वान भी देश की कला और संस्कृति का अध्ययन कर उसके प्रचीन गौरव का अध्ययन करने में लग गए। भारतवासियों को देश की प्राचीन ज्ञान-गरिमा की याद दिलाने में इस कार्य ने अच्छा योग दिया। भारतेन्दु के जीवन-काल में तथा उसके बाद सब सुधारों और नई शक्तियों का यहाँ के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यातायात के साधनों की उन्नति में ब्रिटिश पूँजीवादी आर्थिक नीति का बहुत बड़ा हाथ था। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासक भारतवासियों की सामाजिक, राजनीतिक आदि उन्नति के लिए वास्तव में उत्सुक थे। वास्तविक उन्नति तो स्वयं भारतवासियों ने विविध नए साधनों से लाभ उठाने की चेष्टा द्वारा की। परन्तु अँगरेज़ी साम्राज्यवादी नीति ने परोक्ष रूप से भारतीय जीवन की प्राचीन व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर नवीन समाज का निर्माण करने में सहायता की। लेकिन भारत ने जो थोड़ी उन्नति की भी, उसके लिए उसे कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा, यह विचारने की बात है। इन सब परिवर्तित परिस्थितियों, सुधारों और शक्तियों के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश में एक नवयुग का जन्म हुआ, जिसका जीवन और फलतः साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है, कथा साहित्य ने इन्हीं तत्त्वों से प्राण-चेतना ग्रहण की।

भारतवासी बहुत दिनों से अपनी स्वाधीनता खो बैठे थे। कोई देख-रेख करने वाला न रह जाने पर हिन्दू धर्म का ह्रास होने लगा था। जिस समय अँगरेज़ों का आधिपत्य स्थापित हुआ, उस समय हिन्दू धर्म शिथिल हो चुका था। ब्राह्मण अपने उच्चासन से पतित हो चुके थे और जिस धर्म के तत्वज्ञान के आगे संसार सिर झुकाता है, वे उसी को भूलकर दान लेने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे थे। लेकिन अज्ञान और अन्ध-परम्परा से संवेष्टित अशिक्षित भारतीय जनता अब भी उनके आगे माथा टेक रही थी। यह जाति की दुर्बलता और

प्राणशून्यता का परिचायक था। देश-काल के अनुसार सामाजिक और धार्मिक सुधारों की ओर किसी ने ध्यान न दिया। सच तो यह है कि मानसिक अव्यवसाय रहने पर भी भारतवासी जड़ पदार्थ में परिणत हो गए थे। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त पण्डे-पुरोहित, ज्योतिषी, 'गुरु' आदि जैसे अशिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित ब्राह्मण हिन्दू समाज पर छाए हुए थे। उनके मुख से सुनी हुई ग़लत या ठीक बातों को समाज वेद-वाक्य मानकर तदनुकूल आचरण करने के लिए प्रस्तुत रहता था। अपने अधिकार, उच्च पद और आमदनी खो देने के भय से ब्राह्मण परम्परागत धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होते देखना नहीं चाहते थे। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ग के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ग को धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके धार्मिक जीवन के संचालन का अधिकार न होने तथा संस्कृत भाषा से परिचित न होने के कारण समाज ब्राह्मणों का पतित शासन उखाड़ फेंकने में असमर्थ था। ऐसे ही पतित धार्मिक शासन के अन्तर्गत क्रूर, अत्याचारपूर्ण और हृदय-विदारक सती-प्रथा जैसी अन्य अनेक कुप्रथाओं और कुरीतियों का प्रचार था। कूप-मण्डूक ब्राह्मणों तथा उनके अनुयायियों के विरोध करने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर प्रभृति सज्जनों की सहायता से तत्कालीन अधिकारियों ने ये कुप्रथाएँ एवं कुरीतियाँ बन्द करने का प्रयत्न किया था। बाल-हत्या और नर-बलि तक धर्म-सम्मत मानी जाती थी। बाल-विवाह समाज में घुन की तरह काम कर रहा था। वर्ण-भेद के अन्तर्गत असंख्य जातियों और उपजातियों में विभाजित होने के कारण भारतवासियों को संगठित होने में बड़ी कठिनाई पड़ रही। इनके साथ ही विधवा-विवाह-निषेध, बहु-विवाह, खानपान-सम्बन्धी प्रतिबन्ध, समुद्र-यात्रा के कारण जाति-बहिष्कार, नशाखोरी, पर्दा, स्त्रियों की हीनावस्था, धार्मिक साम्प्रदायिकता, अफ़ीम खाना आदि अनेक कुप्रथाओं का चलन हो गया था। इनमें से कुछ तो काल-वश

स्वयं हिन्दू जाति में उत्पन्न हो गई थीं और कुछ आक्रमणकारियों के कारण फैल गई थीं। हिन्दू धर्म के वाह्य, समय-समय पर बदलते रहने वाले और अप्रधान तत्त्वों को वास्तविक, मूल और प्रधान तत्त्व मान कर लोग धर्माचरण करने लगे; वे हिन्दू धर्म के सच्चे रूप से अनभिज्ञ थे। आलोच्य काल में हिन्दू धर्म और समाज की अत्यन्त शोचनीय अवस्था हो गई थी।

इस काल में अँगरेजों की जीवित जाति के संस्पर्श में आने से देश के जीवन का उससे प्रभावित होना अनिवार्य था। मुसलमान शासकों की भाँति अँगरेज़ों ने भारतवर्ष को अपना घर नहीं बनाया, यह ठीक है, लेकिन तो भी यूरोप की सभ्यता का आघात पाकर पहले बंगाल और फिर समूचा देश उत्तेजित हो उठा। ऐसी अवस्था में आत्मगरिमा से पूर्ण हिन्दू जाति में अभ्युदयाकांक्षा के जन्म से नव-जीवन का संचार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

हिन्दू जाति की नवजात चेतना के मूल में वैज्ञानिक साधनों तथा नवशिक्षा, ये दो प्रधान कारण थे। उच्च शिक्षा का प्रबन्ध भारत में प्राचीन काल से था। मुसलमानी काल में भी हिन्दुओं और मुसलमानों की शिक्षा क्रमशः पंडितों मौलवियों के हाथ में थी। यह शिक्षा प्रधानतः धार्मिक और परम्परागत थी। अब वह समयानुकूल न रह गई थी। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की दिन-प्रति-दिन उन्नति हो रही थी। ऐसी स्थिति में मात्र धार्मिक शिक्षा से ही काम न चल सकता था। राजा राममोहन-राय जैसे प्रगतिशील भारतवासियों के व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार होने लगा था। सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को देखते हुए अँगरेज़ी शिक्षा-प्रचार की परम आवश्यकता समझी गई। इसके फलस्वरूप भारतीय शिक्षित समुदाय यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्त्व समझने लगा था। उस समय संस्कृत शिक्षा का ह्रास हो चुका था। प्राचीन भारत के सम्बन्ध में ज्ञानोपार्जन करने के

लिए शिक्षितों को मैक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की कृतियाँ उठाकर देखनी पड़ती थीं। कुछ भारतीय इतिहास-लेखक भी अपनी कृतियों से भारत के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाल कर देशवासियों का 'राष्ट्रीय गर्व' बढ़ा रहे थे। अपने पूर्व पुरुषों की रचनाओं को वे ज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम समझते थे। अरबी, फ़ारसी और उर्दू साहित्य के स्थान पर भी अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन होने लगा था। कुछ लोग तो ऐसे भी मौजूद थे जो प्राचीन ज्ञान को रद्दी के टोकरे में फेंकने योग्य समझते थे। संक्षेप में, प्राचीन भारत के प्रति लोगों को किसी-न-किसी रूप में अनभिज्ञता ही अधिक थी। अँगरेज़ी भाषा को माध्यम बनाने से भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित हुआ। भाषाओं की उन्नति रुक गई और देश की क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो गया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से अँगरेज़ी पढ़ने-लिखने वालों की मौलिकता और मानसिक शक्ति का विकास न हो सका। जिन महान् व्यक्तियों पर आज देश गर्व करता है, वे इस शिक्षा प्रणाली के कारण नहीं, वरन् अपनी शक्ति से उसकी बुराइयाँ दूर करने के कारण आगे बढ़ सके। नहीं तो इस शिक्षा का कुप्रभाव किसी से छिपा नहीं है और न उस समय छिपा हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बाल-मुकुन्द गुप्त आदि साहित्यिकों ने भरसक उसके विनाशकारी प्रभावों से बचने की चेतावनी दी। इस शिक्षा के पीछे अँगरेज़ों का जो ध्येय था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। केवल शुद्ध साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त अन्य उपयोगी शिक्षाओं का प्रबंध इन संस्थाओं में नहीं था। फलतः भारतीय जीवन का एकांगी और संकीर्ण विकास हो पाया। अँगरेज़ी-शिक्षित व्यक्ति सरकारी नौकरी, अध्यापन-कार्य, वकालत और डॉक्टरी करने के अतिरिक्त और किसी काम के न रह गए। स्वातंत्र्योत्तर काल में भी हमारा स्वाधीन राष्ट्र इसी मानसिक दासता का शिकार बना हुआ है। शिक्षा का यद्यपि अधिकाधिक विस्तार हुआ और स्कूल-कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, पर

शिक्षा का स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता ही गया। हमारे जेल गए देशभक्त नेता, सिवाय नारे देने के, शिक्षा का न तो राष्ट्रीयकरण कर सके और न उसमें कोई आमूलचूल परिवर्तन ही कर सके। इसके परिणाम हमारे आज के जीवन में स्पष्टतया देखने में आ रहे हैं। आज की वर्तमान पीढ़ी अपने देश के गौरव, प्राचीन संस्कृति, मूल्य मर्यादा के प्रति किंचित् भी सजग नहीं हैं और न ही इसका विशेष गर्व ही उसे है। अभी हाल ही में पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर किए गए आक्रमण के पश्चात् जिस राष्ट्रीयता का नए सिरे से अभ्युदय हुआ था, उसकी अवहेलना जिस प्रकार की गई, वह एक दुःखदायी समस्या है, जो हमारे नेताओं की असमर्थता एवं मनोवृत्ति का परिचय देती है। अतः आज का भारतीय एक लम्बी दासता के बाद स्वातंत्र्योत्तर काल में जीवन जीने के बावजूद दास मनोवृत्ति का ही शिकार है और पश्चिमी आचार-व्यवहार को अधिक गर्व से देखता है। अपनी उपयोगी भारतीय परम्पराएँ भी उसे अपमानजनक प्रतीत होती हैं। अँगरेज़ी शिक्षा-नीति का यह एक बहुत बड़ा परिणाम है।

अँगरेज़ी राज्य में प्रचलित वैज्ञानिक साधनों तथा नवीन शिक्षा के प्रचार और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का एक और महत्वपूर्ण पहलू है। हिन्दू धर्म तथा जीवन में पहले भी अनेक परिवर्तन हुए थे। किन्तु ये परिवर्तन देश-जीवन की आभ्यन्तरिक शक्तियों के स्वाभाविक विकास के रूप में हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में जो परिवर्तन हुए, वे स्वाभाविक विकास के रूप में न होकर दो भिन्न सभ्यताओं के सम्पर्क द्वारा हुए। सम्पर्क स्थापित होने के समय इन दो सभ्यताओं में एक दुरूह, उन्नत तथा सजीव थी और दूसरी सरल, पतित और गतिहीन थी। फलतः पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क ने भारतीय समाज को स्वाभाविक प्रगति प्रदान न कर उसके अलसाए जीवन को तीव्र आघात तथा वेग से झकझोर डाला। इसलिए इस सम्पर्क से बहुत अच्छा परिणाम न निकल कर अनेक अंशों में सामाजिक एवं धार्मिक

अराजकता का जन्म हुआ; समाज और धर्म में एक भारी संकट उपस्थित हो गया। अँगरेज़ी-शिक्षित अल्पसंख्यक लोगों के विचारों में तो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए; वे पाश्चात्य सभ्यता व चकाचौंध की ओर आकृष्ट हुए। लेकिन साधारण जनता प्राचीन क्रम अपनाए रही। जीवन के नवीन और प्राचीन क्रम में अनेक परस्पर विरोधी बातें थीं। पश्चिमी सभ्यता द्वारा प्रदत्त जीवन-क्रम देश के परम्परागत एवं स्वाभाविक जीवन-क्रम के साथ मेल न खा सका। होना तो यह चाहिए था कि पश्चिमी विचारों से प्रभावित होकर नव-शिक्षित भारतीय सामाजिक तथा धार्मिक जीवन-क्रम के प्रधान तत्त्वों का फिर से मूल्यांकन कर साधारण जनता का उचित रूप से मार्ग-प्रदर्शन करते। इसके स्थान पर उन्होंने जो कुछ प्राचीन था, उसका घोर खण्डन तो किया, किन्तु देश के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के अनुरूप कोई नवीन व्यवस्था न दी। परिणाम यह हुआ कि देश का साधारण जीवन जहाँ था, वहीं पड़ा रहा और वे स्वयं उसमें न खप सके। वे अपने और देश के स्वाभाविक जीवन में कोई सन्तुलन स्थापित न कर पाए। यदि पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव साधारण जनता तक पहुँच जाता, तो सम्भवतः परिस्थिति दूसरी होती। इसके अतिरिक्त स्वयं नवशिक्षितों के जीवन में एक विषमता उत्पन्न हो गई थी जिससे वे कहीं के न रह गए। नवशिक्षितों का पुरातनत्व से लिप्त घरेलू जीवन उनकी नवीन शिक्षा से भिन्न था। वे अध्ययन तो करते थे मिल्टन, मिल आदि के विचारों का, किन्तु घरों में पंडों-पुरोहितों के विचारों और मूर्ति-पूजा का प्रचार था। बौद्धिक दृष्टि से हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप में विश्वास न रह जाने पर भी उनका सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन उसी से संचालित होता था। इस विषमता तथा अराजकता का उत्तरदायित्व सरकारी शिक्षा संस्थाओं पर था। लेकिन सरकार उसे दूर करने में असमर्थ थी। उसने तो केवल सती-प्रथा, बाल-हत्या, नर-बलि जैसी कुछ क्रूर प्रथाओं के सम्बन्ध में ही हस्तक्षेप किया था। अन्यथा वह सामाजिक तथा धार्मिक

समस्याओं के प्रति उदासीन बनी रही। एक विदेशी सरकार के स्थान पर यह कार्य स्वयं भारतवासी ही अच्छी तरह कर सकते थे और यद्यपि सामाजिक तथा धार्मिक अराजकता कुछ ही लोगों तक सीमित थी तो भी उनका अस्तित्व समाज के लिए ख़तरे से खाली न था। उनमें वास्तविक वस्तुस्थिति पहचान कर उसके अनुरूप कार्य करने की क्षमता रखने वाले बहुत कम थे। किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जिन विषम परिस्थितियों में वे पड़ गए थे, उन पर उनका कोई अधिकार नहीं था; वे विवश थे। वे लोग काफी शिक्षित अवश्य थे, पर परिस्थिति-वश अपने ही समाज में खप नहीं रहे थे। उनका मानसिक जीवन अनेक विरोधी तत्वों से पूर्ण था। अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने वालों में वे अग्रणी थे। इसके लिए उन्हें जो मूल्य चुकाना पड़ा वह किसी भी स्थिति में कम नही था। केवल जातीय संस्कारों और सामाजिक भावनाओं ने उनके जीवन की रक्षा की। पाश्चात्य सभ्यता के अनेक अवगुण आ जाने पर भी उनमें उसके सद्‌गुणों का अभाव नहीं था। सामाजिक, धार्मिक तथा घरेलू जीवन की अराजकताओं और राजनीतिक असन्तोष के बीच अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त करने में नव-शिक्षितों को जिन कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा, उनका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वैसे भी अँगरेज़ी शिक्षा का सूत्रपात हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे। संक्रान्ति-कालीन अनेक दोष उस समय उत्पन्न हो गए तो कोई आश्चर्य नहीं। उस समय जो थोड़े-से व्यक्ति नव-शिक्षा प्राप्त करने पर भी अपने जीवन-मूल से शक्ति संचित करना न भूले वे ही धर्म और समाज के सच्चे नेता बने। पाश्चात्य सभ्यता के प्रहार-पर-प्रहार सहन करने पर भी अपना अस्तित्व बनाए रखने वाले हिन्दू धर्म की मूल शक्ति और समाज की पुरातनत्व के प्रति मोह वाली प्रवृत्ति का वास्तविक रूप न पहचान कर केवल हिन्दू धर्म के श्रेष्ठ और हीन सभी रूपों का खण्डन करने वाले नवशिक्षितों को अपनाने में समाज को संकोच हुआ।

यद्यपि नवशिक्षा का सम्यक् प्रभाव अच्छा न पड़ा, तो भी यह नहीं

कहा जा सकता कि वह देश के लिए सर्वथा घातक सिद्ध हुई, या उसका कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम ही नहीं हुआ। बुराइयाँ होते हुए भी भारतवासियों ने नवीन शिक्षा-प्रणाली के साथ पूरा सहयोग प्रकट किया। उसके सहारे ही वे समय की प्रगति के साथ आगे बढ़ सकते थे। पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन से देश की सामाजिक और धार्मिक अवस्था में बहुत-कुछ सुधार हुआ, नए-नए विचारों और राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ, देश की राजनीतिक एवं नैतिक उदासीनता दूर हुई और वह उद्योग-धन्धों में दिलचस्पी लेकर आगे बढ़ा। भारतवर्ष का उस विज्ञान से परिचय हुआ जिसने पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति की अवतारणा की थी और एशिया तथा अफ्रीका के महाद्वीपों पर साम्राज्यवाद का अंकुश बिठा दिया था। विज्ञान के अतिरिक्त बर्क, मिल, मौर्ले, स्पेंसर तथा मिल्टन आदि पाश्चात्य विचारकों का भी उन पर प्रभाव पड़ा। मिल के विचारों ने स्त्रियों की स्वाधीनता और प्रतिनिधि शासन की ओर शिक्षितों का ध्यान आकृष्ट किया। पश्चिम के विचारकों की रचनाओं में उनकी श्रद्धा प्रतिदिन बढ़ती गई। इँगलैण्ड और भारत के बीच आने-जाने की सुगमता हो जाने से पश्चिम के विचारकों और तत्कालीन इँगलैण्ड के विक्टोरियन सामाजिक आचार-विचारों और राजनीतिक आकाँक्षाओं का देश पर प्रभाव पड़े विना न रह सका। पश्चिमी प्रभाव के कारण देशवासियों का दृष्टिकोण व्यापक हुआ, उनके जीवन के प्रत्येक पहलू में नई स्फूर्ति और उत्तेजना पैदा हुई। नव-शिक्षितों में भी दो दल थे। एक दल तो वह था जिसे पश्चिम ने बिल्कुल मोह लिया था। दूसरा दल वह था, जो अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने पर भी भारतीयत्व बनाए रखना चाहता था। कहना न होगा कि हिन्दी साहित्यिकों का सम्बन्ध दूसरे दल से था। भारतीयत्व की उमंग में कभी-कभी उनका 'प्रतिक्रियावादी' विचारों का पोषक हो जाना सम्भव था। किन्तु पश्चिम से मोहित अतिवादी सुधारकों की अपेक्षा समाज में उनका स्थान कहीं अधिक सहज-स्वाभाविक था। सारांश यह

है कि पाश्चात्य सभ्यता के स्पर्श से देश का शिक्षित समुदाय एक या दूसरी दिशा में चलने के लिए आतुर हो उठा था, उसमें गतिशीलता आ गई थी। इसके अतिरिक्त जो कुछ देश में था, वह पुराना था और बहुत बड़े अंशों में पुराना था। यह स्थिति १९४७ तक आते-आते बहुत स्पष्ट हो गई थी। स्वातंत्र्योत्तर काल में इसके दो रूप प्राप्त हुए। बड़े-बड़े नगरों में अधिकांशतः जीवन नए धरातल पर विकसित हुआ, जो मुख्यतः पश्चिमी सभ्यता की देन था। वहाँ के लोगों में परम्परा के प्रति लेशमात्र भी मोह न था और यथासम्भव 'भारतीयता' को वे मिटा कर वे व्यापक नवीन परिवेश को आत्मसात् कर नया बनना चाहते थे। इसके विपरीत दूसरे छोटे शहर थे, जो इस नवीन-पुराने के संधि-स्थल पर खड़े थे, जहाँ जीवन के विविध रूप प्रसारित थे। वे न तो एकदम नया बनना चाहते थे और न पुरातनवादी। वे दोनों ही दिशाओं के उपयोगी तत्त्वों को लेकर आगे बढ़ना चाहते थे। इस प्रवृत्ति ने सामूहिक भारतीय चेतना को स्वातंत्र्योत्तर काल में एक अभिनव दिशा प्रदान की, इसमें कोई सन्देह नहीं और इस काल में एक सर्वथा नई जीवन-दृष्टि निर्मित हुई, जो पूर्णतया 'भारतीय' नहीं थी, यह निःसंकोच स्वीकारना होगा।

इस काल में आध्यात्मिकता के मूल तत्त्वों की भित्ति पर खड़ा हुआ वृहत् हिन्दू जीवन प्राणहीन हो गया था। काल-गति से उसका जीवन निस्तेज और निस्पन्द हो गया था। ईसाई और इस्लाम धर्मों से वह अत्यन्त प्राचीन था। इतनी लम्बी अवधि में विभिन्न संकट-कालों में उसकी विशालता ही उसके प्राण बचाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। ऊपरी विभिन्नताएँ और दुर्बलताएँ होते हुए भी हिन्दू समाज रहस्यमय आध्यात्मिक एकता के सूत्र में बँधा हुआ था। मुसलमानों के दीर्घ-काल-व्यापी राजत्व-काल में इस्लाम धर्म से प्रभावित होकर देश जातीय उन्नति के मूल सामाजिक संगठन, ऐक्य और स्वजाति-हितैषिता का महत्त्व समझने लगा था। इस्लाम धर्म का हिन्दू समाज तथा धर्म पर प्रभाव

अवश्य बतलाना पड़ा, किन्तु ऐसी अनेक बातें, जिन्हें इस्लाम धर्म से ग्रहण किया जाता है, वे स्वयं हिन्दू धर्म की ही हैं। समय-समय पर विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए समाज से नेताओं ने हिन्दू धर्म के अक्षय भाण्डार में से कोई एक अनुकूल तत्व खोज कर आत्मरक्षा के साधन जुटाए, यही हिन्दू धर्म की गतिशीलता है।

मुग़ल साम्राज्य के ध्वंस के बाद अँगरेज़ों के साथ-साथ ईसाई मिशनरी भी इस देश में आए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ईसाई धर्म का भारत में काफ़ी प्रचार हो चुका था। इस काल में ब्रह्मसमाज और आर्य समाज ने पतित हिन्दू समाज से असंतुष्ट और उसके प्रति विद्रोह करने वाले भारतवासियों की सुधारवादी प्रवृत्ति और जिज्ञासा की परितुष्टि कर कर अनेक हिन्दू धर्मावलम्बियों को, जो ईसाई या मुसलमान हो गए थे, फिर से हिन्दू धर्म की सघन छाया के नीचे ले लिया। इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता न मिल सकने का दायित्व हिन्दू समाज की कमज़ोर पाचन शक्ति पर था। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के लिए नई चेष्टाएँ की जाने लगीं। नवशिक्षा और सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप आत्मविस्मृत भारतीय जनसमूह को फिर से अपने धर्म का श्रेष्ठत्व मान्य हुआ।

लेकिन इतना अवश्य स्वीकारना होगा कि ईसाई पादरियों ने अनेक भयंकर और क्रूर धार्मिक एवं सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन किया और सरकार को उन प्रथाओं पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए विवश किया। धार्मिक और सामाजिक चेतना के फलस्वरूप स्वयं हिन्दुओं में उनके विरुद्ध आन्दोलन शुरू हो गया था। अनेक नवशिक्षित भारतीय उन कुप्रथाओं को रोकने का प्रयत्न करने लगे। सरकार को अच्छा अवसर मिला। उसने केवल तांत्रिक मत की प्रबलता लिए हुए नर-मांस द्वारा देवी, चण्डिका, चामुण्डा और काली आदि शक्तियों की उपासना बन्द कर दी। वंश-वृद्धि की कामना से कभी-कभी हिन्दू लोग अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्रों को गंगासागर में फेंक देते थे या देवताओं पर बलि चढ़ा देते थे। कन्या को तो जन्म के समय ही मार डालते थे। सरकार

ने ऐसी नृशंस रीतियाँ रोकने का प्रयत्न किया, पर अब स्वयं हिन्दू समाज सुधारों के लिए प्रयत्नशील था। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ की जाने लगीं जिनमें सती-दाह, बाल-हत्या, नर-बलि, बाल-विवाह, विवाह मे फ़िज़ूलखर्च, मद्यपान, वेश्यावृत्ति आदि के विरोध में प्रस्ताव स्वीकार किए जाते थे। सरकार की हस्तक्षेप-नीति केवल दो-चार अमानुषी प्रथाओं तक ही बरती गई। गम्भीर धार्मिक विषयों में वह उदासीनता ग्रहण किए रही। इस नवजात चेतना के कारण हिन्दू धर्म की उन्नति और उसमें विश्वश्रेष्ठ आत्मगरिमा पुनर्जीवित करने के लिए अनेक महान् व्यक्ति अपना जीवन उत्सर्ग करने लगे। इसके पश्चात् स्वातंत्र्योत्तर काल में एक बहुत बड़े वर्ग में हमें धर्म के प्रति उदासीनता लक्षित होती है। यद्यपि दो-एक राजनीतिक दलों एवं आन्दोलनों ने पुनः एक बार आर्य धर्म एवं हिन्दू धर्म का प्रचार-प्रसार करने का प्रयत्न किया, पर इसमें उन्हें विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। वास्तव में इस काल में राष्ट्रीय नेताओं द्वारा प्रचलित धर्म निरपेक्षता की नीति का इतना प्रभाव तो पड़ा ही कि हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों में धर्मान्धता या कट्टरता के प्रति अनुदार भावना विकसित होने लगी है और उसके स्थान पर एक सार्वजनीन भावना एवं मानवतावादी दृष्टिकोण विकसित हो रहा है। इससे समाज का परम्परागत धार्मिक ढाँचा एक प्रकार से ढह रहा है और जिस नए समाज का उदय हो रहा है उसमें विश्व-बंधुत्व एवं एकीकरण की भावना का आधिक्य है। अभी हाल ही में ५ अगस्त, १९६५ से प्रारम्भ हुए पाकिस्तानी आक्रमण के समय इसका ठोस आधार अधिक स्पष्ट हुआ है, जब कि पाकिस्तान में अभी मध्ययुगीन 'संस्कृति' एवं धार्मिक मदांधता को प्रचलित रखने की जी-तोड़ कोशिशें हो रही हैं।

अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत शासन तथा आर्थिक व्यवस्था और नवशिक्षा के कारण जहाँ अनेक परिवर्तन हुए, वहाँ सबसे बड़ा परिवर्तन भारत की सामाजिक व्यवस्था में मध्य वर्ग का जन्म होना था—एक प्रकार से

अन्य सभी परिवर्तन इसी मध्य वर्ग के कारण हुए। उच्च वर्ग नवीन प्रभावों से अलग कट्टर और अपरिवर्तनशील था। उन्हें नवीन शिक्षा देने की न तो शासकों की (राजनीतिक दृष्टि से) नीति थी और न उन्होंने स्वयं उसके प्रति रुचि प्रकट की। निम्न वर्ग निर्धन और अशिक्षित था। अस्तु वकील, डॉक्टर, अध्यापक, साधारण हैसियत के व्यापारी, सरकारी नौकरों आदि का ही एक वर्ग ऐसा था, जो नवशिक्षा ग्रहण कर पाश्चात्य सभ्यता के अधिक-से-अधिक सम्पर्क में आया था। इसलिए यही वर्ग नव-चेतना से सर्वाधिक प्रभावित था। नवीन विचारों से प्रेरित होकर मध्य वर्ग ने भारतीय जीवन में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। इसी वर्ग के माध्यय द्वारा भारत आधुनिकता की ओर अग्रसर होकर संसार के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित कर सका है। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में इस वर्ग की चेतना का जन्म प्रधानत: राजनीतिक और आर्थिक रूप में हुआ था। नवोत्थानकालीन होने के कारण इस वर्ग की राजनीतिक राष्ट्रीयता बहुत कुछ हिन्दुत्व लिए हुए थी और 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान' उसके मुख्य शब्द थे। साथ ही वर्ग, धर्म एवं साम्प्रदायिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी राजनीतिक विचारधारा थी जिसने सम्प्रदायिक निर्वाचन, सरकारी नौकरियों, आर्थिक रियायतों आदि की माँगों को जन्म दिया। दोनों विचारधाराएँ तत्कालीन भारत में प्रचलित थीं और कहीं-कहीं आपस में एक-दूसरे को छूकर फिर अलग हो जाती थीं। किन्तु राजनीति के निराशा और अन्धकारपूर्ण वातावरण में यह वर्ग धार्मिक और सामाजिक विषयों की ओर अधिक झुका—क्यों कि एक ओर से निराश होने पर जीवन शून्य में स्थित नहीं रह सकता था, उसे किसी-न-किसी सांस्कृतिक आधार की आवश्यकता थी। धर्म तथा समाज के अतिरिक्त उसकी आन्तरिक सन्तुष्टि का और कोई साधन न रह गया था। इससे न तो सरकार को किसी का डर था और न किसी को सरकार का डर था। नवोदित राष्ट्रीयता वैसे भी देश के प्राचीन गौरव की अपेक्षा रखती है। उसने इस्लामी और भारतीय सभ्यताओं के

सम्पर्क से उत्पन्न मिश्रित जीवन की ओर ध्यान न दिया। और अन्त में राष्ट्रीय चेतना का रूप राजनीतिक और आर्थिक न रहकर प्रमुख रूप से धार्मिक और आर्थिक राष्ट्रीयता के रूप में परिणत हो गया। मध्य वर्ग की इसी नव-चेतना ने भारतीय नवोत्थान का रूप ग्रहण किया।

संसार में प्रायः धर्म और समाज में अभिन्न सम्बन्ध रहता है। किन्तु हिन्दू धर्म में यह बात सबसे अधिक देखी जाती है। हिन्दू धर्म वास्तव में धार्मिक व्यवस्था की अपेक्षा सामाजिक व्यवस्था अधिक है। धर्म की दृष्टि से उसमें अनेक 'वादों' का संगठन होते हुए भी अनेकता में एकता का सूत्र अन्तर्निहित है। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न नवीन धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के मूल में यही तथ्य था। नवशिक्षित हिन्दुओं ने नवोत्थान की भावना से अनुप्राणित होकर धर्म और समाज की कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ दूर करने का प्रयत्न किया। भारतीय दृष्टिकोण लिए हुए सुधारवादी आन्दोलनों का एक मुख्य ध्येय अनेक अँगरेज़ी शिक्षित नवयुवकों का सुधार करना भी था। नवीन शिक्षा के कारण देश में प्राचीन धर्म-सम्बन्धी अनभिज्ञता बढ़ने और सांस्कृतिक ह्रास होने के कारण देशभक्तों को मर्मान्तिक पीड़ा होती थी। नव-शिक्षित युवक ज्ञान-विज्ञान की ओर झुक कर विद्योपार्जन कर रहे थे, यह ठीक है, परन्तु विदेशी शिक्षा ने भारत के इन नवयुवकों को इतना मोहित कर लिया था कि वे स्वधर्माचारों से उदासीन और विदेशी पद्धतियों के ग़ुलाम बन गए। वे अशिक्षित भारतीयों का उद्धार करने के बजाय उनसे घृणा करने लगे। यह शिक्षा उनके नैतिक जीवन के लिए भी अनुकूल सिद्ध न हुई। विदेशी हाव-भाव, चाल-चलन, आचार-विचार, खान-पान आदि के वे ऐसे भक्त बने कि स्वदेश की बातों को वे गँवारू समझने लगे। इसका चरम रूप तो स्वातंत्र्योत्तर काल में प्राप्त होता है, जबकि वास्तव में 'भारतीयता' नाम की कोई चीज़ नई पीढ़ी में मिलती ही नहीं है।

अन्त में उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

वर्तमान काल में पश्चिमी सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने से विविध सुधारवादी तथा अन्य आंदोलनों और नई शक्तियों की वृद्धि से अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए, जिनके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य और भाषा की गतिविधि भी परम्परा छोड़कर नव-दिशोन्मुख हुई। स्थूल रूप से समाज चार भागों में बँटा हुआ था—एक राजा-महाराजाओं का वर्ग; दूसरा जमींदारों का वर्ग; तीसरा नव शिक्षितों एवं व्यवसायियों का वर्ग; और चौथा किसानों, मजदूरों, कारीगरों आदि का निम्न वर्ग। चौथा वर्ग संख्या में सबसे अधिक था। नवीन परिवर्तनों से वैसे सभी वर्ग प्रभावित हुए, किन्तु तीसरे और चौथे वर्ग निश्चित रूप से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुए। नव-शिक्षित होने कारण तीसरे वर्ग ने सबसे अधिक क्रियाशीलता प्रकट की। पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से देश में नव-चेतना उत्पन्न हुई, समाज अपनी बिखरी शक्ति बटोरकर गतिशील हुआ। नवयुग के जन्म के साथ विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ, साहित्य में गद्य की वृद्धि हुई और कथा साहित्य को दिशा मिली। सामंजस्य स्थापित करने से पूर्व कथाकारों ने वैज्ञानिक तथा अन्य नई-नई बातों को कुतूहल और उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से देखकर उनका वर्णन किया। उन्होंने नवीन भावों और विचारों को सन्देह की दृष्टि से भी देखा। पूरे तौर से सत्य रूप में तो वे अब ग्रहण किए गए हैं। उस समय कदाचित् यही स्वाभाविक था। आलोच्य काल के हिन्दी कथा साहित्य का अध्ययन करने पर यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रह सकता कि यद्यपि उसमें बहुत बड़ी सीमा तक पुरातनत्व बना हुआ था, तो भी तत्कालीन कथाकारों में लेखकपन होने के साथ-साथ समाज-सुधारक और धर्मोपदेशक होने की भी प्रवृत्ति थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में नव-भारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्वाकांक्षाएँ प्रकट कर अपने चारों ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशस्त जीवन की ओर इंगित किया है। अँगरेजी साहित्य ने उनके भावों और विचारों को प्रभावित किया,

नए-नए साहित्यिक रूपों का जन्म हुआ और भाषा का शब्द-भांडार और अभिव्यंजनात्मक शक्ति बढ़ी।

किन्तु यह गतिशीलता समाज के अल्पसंख्यक लोगों तक सीमित थी। अशिक्षित होने के कारण साधारण जनता का इस सजगता, सप्राणता एवं सजीवता से सम्बन्ध नहीं था और न साधारण जनता की शक्ति का कोई विशेष प्रकटीकरण राजनीतिक क्षेत्र में ही हुआ। प्राचीन ग्राम-व्यवस्था टूट जाने और औद्योगीकरण के अभाव में उसमें सामूहिक चेतना का जन्म न हो सका। उच्च वर्ग नवीन शासन से आतंकित और अपने वर्गीय स्वार्थ में लीन था। सजीव अँगरेज़ जाति ने विजय-गर्व के वशीभूत हो भारतवासियों को अपने से अलग रखा। फलतः उनके सम्पर्क का जितना रचनात्मक और क्रियात्मक प्रभाव पड़ना चाहिए था, उतना प्रभाव न पड़ सका। मध्यकालीन भारत में जो सांस्कृतिक चेतना हुई थी, उसका अँगरेज़ों के शासन काल में अभाव रहा। प्रारम्भ में जहाँ-जहाँ अँगरेज़ों का बराबरी के दर्जे पर देशवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ, वहाँ-वहाँ आशाजनक सांस्कृतिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुए। अवध में अमानत कृत 'इन्दर-सभा' इसी प्रभाव के कारण एक मुस्लिम राज-दरबार में जन्म ले सकी थी। इस प्रकार का सांस्कृतिक सम्बन्ध कम स्थानों पर और अस्थायी रूप से स्थापित हुआ और आगे चलकर उतना भी न रहा। अँगरेज़ी शिक्षा के कारण शिक्षितों और साधारण जनता के बीच व्यवधान पैदा हो गया था। जनता की ओर केवल उन्हीं लोगों ने ध्यान दिया, जिन्होंने अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने पर भी भारतीयता और देशी भाषा एवं साहित्य से सम्बन्ध बनाए रखा अथवा जो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त न करने भी नवयुग की चेतना से अनुप्राणित थे। उन्होंने 'बिगड़े हुए' शिक्षित युवकों के सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। नवोत्थान काल के प्रथम चरण में जितने भी सार्वजनिक आन्दोलनों का जन्म हुआ उन सभी ने अन्ततः किसी-न-किसी प्रकार राष्ट्रीय रूप ग्रहण किया। हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाला

आर्य समाज आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह आन्दोलन जनता का आन्दोलन था। सैद्धांतिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के और आर्य समाज के विचारों में अधिक अन्तर नहीं था। सनातन-धर्मी वैष्णव होते हुए भी आर्य समाज की अनेक बातों में उन्हें स्वयं विश्वास था।

वास्तव में हिन्दी नवोत्थान द्विमुखी होकर अवतरित हुआ था। एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी, तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुए थी। नवोत्थान की अवतारणा के पीछे जिन शक्तियों ने कार्य किया, उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का नवोत्थान आन्दोलन उस व्यापक भारतीय आन्दोलन का एक भाग था, जो उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ पूर्व से ही, प्रधानतः ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता के सम्पर्क द्वारा मिश्र, टर्की, अरब, ईराक़, ईरान, अफग़ा-निस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप आदि समस्त पूर्वी संसार का जीवन स्पन्दित कर रहा था। पूर्वी संसार का आध्यात्मिक और मानसिक जीवन पूर्वी और पश्चिमी दोनों शक्तियों से प्रेरित हुआ था। उस समय उसकी क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो चुका था। विज्ञान और औद्योगिक विकास के बल पर पश्चिम को विजय प्राप्त हुई। स्त्रियों की स्वाधीनता, विविध सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों, राजनीतिक चेतना, मातृभाषा, नए वर्गों के जन्म आदि के रूप में पाश्चात्य बिचारों का प्रभाव सभी देशों के नवोत्थान आन्दोलनों पर लगभग समान रूप से पाया जाता है। इस सम्बन्ध में भारतीय आन्दोलन की अपनी एक विशिष्टता थी। एक प्राचीन तथा उच्च सभ्यता का उत्तराधिकारी और यूरोप से दूर होने के कारण भारत दूसरा टर्की न बन सकता था। हिन्दी-भाषियों ने एक सार्वभौम ऐतिहासिक क्रम में अपना पूर्ण योग दिया। वे क्रान्तिकारी न होकर सुधारवादी थे, अथवा उनके सुधार ही मौन क्रान्ति का रूप धारण कर रहे थे। पश्चिमी विचारों के आघात ने भारत के प्राचीन सांस्कृतिक भवन की दीवारों को एकबारगी हिला

डाला था। अच्छा यह हुआ कि उसकी नींव दृढ़ बनी हुई थी। भारतेन्दु-कालीन हिन्दी मनीषी एक बिल्कुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नींव पर नए ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में एक ऐसे भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहते थे जिसके साए में रहकर अपार भारतीय जनसमूह सुख और शान्तिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–जीवन के ये चारों फल प्राप्त कर सकता था। वे युगधर्म में पोषित थे। उनकी वाणी में नव भारत का स्वर प्रतिध्वनित था। वे भारतीय संस्कृति के प्रधान अंग, पुर्नजन्म, के सिद्धान्त से परिचित थे। उन्होंने अपने नवीनतम ज्ञान और अनुभव का सम्बल लेकर भारतीय मंगल-क्रांति के लिए शंख-ध्वनि की।

इस शताब्दी के जीवन से सम्बन्धित जिन विविध पक्षों का ऊपर विस्तृत विवेचन किया गया है, उनसे यह साष्टतः ज्ञात हो जाता है कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी राजनीतिक तथा आर्थिक नीतियों, ईसाई धर्म प्रचारकों, प्रशासकीय परिवर्तनों, वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के फलस्वरूप जीवन का पिछला गतिरोध टूट गया था और उसके अच्छे-बुरे दोनों ही परिणाम दृष्टिगोचर हो रहे थे। जीवन और साहित्य के इस अभूतपूर्व परिवर्तन को कुछ लोग प्रतिक्रिया-वाद कहते हैं, कुछ क्रान्ति और कुछ कोरा सुधारवाद। वस्तुतः इनमें से किसी भी शब्द का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। उसे यदि हम केवल 'पुनरुत्थान' शब्द से अभिहित करें तो समीचीन होगा। यही कारण है कि उस समय हमें भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति नितान्त अलगाव नहीं पाया जाता। प्राचीन और नवीन का एक अद्भुत समन्वय तत्कालीन जीवन का सारभूत अंश है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में व्यक्ति समुदाय का एक अंग मात्र था और जब तक वह समुदाय की सुचारु व्यवस्था में हस्तक्षेप न करता था, तब तक वह सब कुछ करने के लिए स्वतंत्र था—विशेषतः धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों में तो उसे पूर्ण स्वतंत्रता थी। उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्ति के

सभी प्रकार के पिछले बंधन टूटने लगे, पर वह उच्छृङ्खलता नहीं थी। वह व्यक्ति और समाज में नवीन वैज्ञानिक आधारों पर आधारित समन्वय उपस्थित करने का एक नवीन प्रयास था और इस प्रयास के पीछे ज्ञान की अतृप्त पिपासा थी।

नवोत्थित भारत के दूरदर्शी मनीषियों एवं विचारकों ने नवयुग का स्वागत किया। उन्हें अपने युग पर गर्व था—यद्यपि उस युग में रहने का, विशेषत: मध्ययुगीन पौराणिकता के बाद, मूल्य भी चुकाना पड़ा। वास्तव में भारत को आधुनिकता की प्रसव-पीड़ा का अनुभव उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ। इसलिए हमें इस शताब्दी में अन्तर्विरोध और अनिश्चितता के दर्शन भी होते हैं। पुराने मार्ग को छोड़कर नया मार्ग अपनाते समय अनेक प्रकार के प्रश्नों और समस्याओं का सामने आ जाना स्वाभाविक है। क्यों, कैसे और कहाँ—ये शब्द मन और मस्तिष्क को झकझोरते रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्ति के मन में संघर्ष था, पुरातनत्व के प्रति मोह और नवीनता के प्रति आकर्षण दोनों में परस्पर खींचातानी थी, अपने क्षोभपूर्ण वर्तमान और अनिश्चित भविष्य के कारण उसका हृदय नाना प्रकार के संशयों से आंदोलित था। यह ठीक है। किन्तु उसकी शक्ति का परिचय इस बात से मिलता है कि उसने अपने अन्तर्विरोधों, संघर्षों, अनिश्चितताओं और संशयों का समाधान करने की भरपूर चेष्टा की। आत्म-मंथन और आत्म-विश्लेषण का ऐसा प्रयास भारतीय इतिहास की पिछली कई शताब्दियों तक नहीं मिलता। एक प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी होने के कारण तत्कालीन मनीषी आत्म-सम्मान और साहस के साथ क़दम बढ़ाना चाहते थे और ऐसे आदर्शों को जन्म देना चाहते थे जो तत्कालीन जीवन में फिर से प्राण फूंक सकते। इतिहास के चौरस्ते पर खड़े हुए और सब तरह की नई-पुरानी और अच्छी-बुरी चीज़ों के घिरे रहने पर भी उन्होंने निडर होकर भारतीय जीवन को समृद्ध बनाने का ध्रुव निश्चय किया।

इस ध्रुव निश्चय का ज्वलन्त रूप था सत्यान्वेषण। इसी सत्यान्वेषण

का परिणाम था कि मध्ययुगीन ईश्बर ने मानवता का रूप धारण कर लिया। बहुत दिनों बाद उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवासी ने अपने और अपने चारों ओर के जीवन में दिलचस्पी ली–आध्यात्मिक जीवन के साथ-साथ मनुष्य के भौतिक जीवन को भी समृद्ध बनाने की चेष्टा की। उसने वह दृष्टिकोण ग्रहण किया जो गीता के कृष्ण का था। नवीन युग के धर्म ने जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को एक नया पहलू प्रदान किया। इस नए पहलू में मध्ययुगीन रहस्यात्मकता और अन्तिम 'सत्य' की कोरी खोज नहीं थी। मानवता, समाज, देश आदि का सुख भी उन्नीसवीं शतब्दी का प्रधान लक्ष्य बना। मानवता की परिधि में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और न्याय तथा दण्ड के सम्धन्ध में नवीन भावना के स्वर से उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा ओतप्रोत है। उसी समय सामाजिक न्याय की भावना उत्पन्न हुई—जो पिछले सामन्तवादी युग में नहीं थी। हिन्दी साहित्य स्वयं इसका प्रमाण है। उन्नीसवीं शताब्दी के कथाकार पलायनवादी न थे, वे जीवन से जूझना जानते थे। वे भारतीय जीवन के भीतरी और बाहरी दोनों रूपों को पहचान कर उसमें नया रंग भरना चाहते थे। इतिहास ने उनमें अदम्य जिजीविषा भरी और मनुष्य की निरन्तर प्रगति में उन्हें अगाध विश्वास प्राप्त हुआ। 'कामायनी' के 'त्रिपुर-दाह' की उन्होंने उसी समय कल्पना कर ली थी। भूत, वर्तमान और भविष्य को अपनी भुजाओं में समेट कर वे जीना चाहते थे, जीवन के लिए वे मर मिटना चाहते थे—और वह भी समाज-कल्याण की दृष्टि से। अपरिवर्तनशीलता उनके लिए मृत्यु थी। उनके मन में असन्तोष था, क्योंकि वे कर्मठता द्वारा भारतीय जीवन को नवीन रूप प्रदान करना चाहते थे। उनका आदर्श, उनका त्याग, उनका संयम और उनकी साधना व्यर्थ सिद्ध नहीं हुई। हिन्दी कथा साहित्य और बीसवीं शताब्दी का भारतीय जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

हिन्दी कथा साहित्य का यही परिवेश है, जिसमें उसका अविर्भाव हुआ और आज तक उसका इस रूप में विस्तार हुआ है। इस काल में

कथा साहित्य वस्तुतः सुधारवादी प्रवृत्ति लेकर ही आया। कथाकारों ने नैतिक एवं शिक्षाप्रद कथा-कृतियों की रचना की जिनमें सामाजिक-गार्हस्थ्य आदि जीवन क्षेत्रों से सम्बन्धित शिक्षा और नीति से परिपूर्ण भावनाओं का समावेश प्राप्त होता है। उनसे सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। गुण-दोषों का ठीक-ठीक विवेचन करना और कठोर नैतिक अनुशासन और जीवन को उन्नति के मार्ग पर ले चलना, इन कृतियों का अन्तिम ध्येय है। किन्तु इन रचनाओं में कलापक्ष कुछ कमज़ोर है। इस युग के लेखक जनता को अधोगति के गर्त से निकालकर उसे उचित मार्ग पर लाना चाहते थे, नैतिकता और शिक्षा के अतिरिक्त उनमें प्रेम-तत्व भी प्रमुख है। उनमें अधिकांशतः सत्य का अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया है। उनसे समाज-सुधार, जातीय गौरव की रक्षा, ऐतिहासिक सत्य, दर्शन और मानवता को प्रश्रय प्राप्त होता है। उसका अधिक विकास प्रेमचन्द के हाथों हुआ और उनके आने के साथ ही कहानी विधा को प्राणतत्व ही नहीं प्राप्त हुआ, सुनिश्चित दिशा भी उपलब्ध हुई।

२

परम्परा : धाराएँ और स्पष्टीकरण

(१)

पीछे एक संक्षिप्त पृष्ठभूमि देकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि जीवन की किन परिस्थितियों में हिन्दी कथा साहित्य का अविर्भाव हुआ। प्रेमचन्द नेअपने आगमन के साथ ही हिन्दी कहानियों का स्वरूप-निर्माण करना प्रारम्भ किया और शीघ्र ही उसे उसका वास्तविक स्वरूप भी प्राप्त हुआ। इस काल में कहानी की दो धाराएँ प्राप्त होती हैं एक तो सामाजिक दायित्व-बोध की धारा और दूसरी आत्म-परक विश्लेषण की धारा।

सामाजिक दायित्व-बोध की धारा का सम्बन्ध सीधे जीवन से है। इस धारा के लेखकों ने जीवन के यथार्थ को ही प्रमुखता प्रदान की। उनका वैयक्तिक दृष्टिकोण चाहे कुछ भी रहा हो, पर जीवन-तत्वों की अवहेलना करना उन्हें न तो रुचिकर था और न इसे वे वांछनीय ही समझते थे। बहुत-कुछ सीमा तक यह उचित ही था। लेखक वस्तुतः सामाजिक प्राणी होता है। वह वही जीवन जीता है, जो उसके चारों तरफ के परिवेश में दूसरे लोग। उन लोगों का आपस में अटूट सम्बन्ध होता है। जब जीवन-तत्वों एवं सामाजिक यथार्थ की अवहेलना कर लेखक काल्पनिक कृत्रिम संसार का निर्माण करता है, तो वह एक प्रकार से मृत्यु का ही वरण नहीं करता, वरन् अपने आप से सम्बद्ध सत्यता को भी झुठलाता है। यदि लेखक सजग एवं सचेत रहता है, उसके पास कोई जीवन दृष्टि होती है, तो उसका यह प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने समाज का, युग का, परिवेश का और अपने चारों तरफ के

लोगों के जीवन की विभिन्न समस्याओं का यथार्थ के व्यापक आयामों का संस्पर्श देते हुए पूर्ण तटस्थता एवं निस्संगता से चित्रण करे और उसे सत्य की वाणी दे। यही उसका वास्तविक लेखकीय धर्म भी होता है। इस दायित्व-बोध का निर्वाह न कर सकने की असमर्थता ही किसी जीवन्त साहित्य को शाश्वत गुणों से वञ्चित करती है और उसे मृत साहित्य बना देती है। इस प्रकार के साहित्य की उपयोगिता शून्य होती है और उपादेयता के गुणों से वांचित साहित्य कभी भी समाज को या युग को कोई दिशा देने अथवा पथ स्पष्ट करने में समर्थ नहीं होता। साहित्य का ध्येयोन्मुख होना ही उसकी सर्वप्रमुख विशेषता होती है, यह निर्विवाद है।

इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति को समाज से अलग करके नहीं देखा जा सकता। व्यक्ति की यदि अपनी सत्ता होती है, तो उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि वह एक सामाजिक इकाई है, जहाँ वह साँस लेता है, प्राण पाता है और जीवन ग्रहण करता है। जब व्यक्ति की महिमा का बखान करना ही साहित्य का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है और समाज की सत्ता उसके लिए गौण हो जाती है, तो वह साहित्य मूल्य-मर्यादा रहित हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आज 'नई' कहानी भी इस बात का दावा करती है कि वह दायित्व-बोध और सामाजिक यथार्थ की भावना से पूरित है और इस प्रकार वह एक 'नए' युग का सूत्रपात करती है। इस सम्बन्ध में मनोरंजक बात यह है कि इस प्रकार का दावा करने वाले कदाचित् कहानियाँ भूल जाते हैं। 'ज़ख्म' (मोहन राकेश), 'एक कटी हुई कहानी' (राजेन्द्र यादव), 'ऊपर उठता हुआ मकान' (कमलेश्वर), 'दहलीज़' (निर्मल वर्मा), 'अनबीता व्यतीत' (नरेश मेहता), 'कई कुहरे' (सुरेश सिनहा) की तुलना में 'कफ़न' (प्रेमचन्द), 'निंदिया लागी' (भगवती प्रसाद वाजपेयी), 'गदल' (रांगेय राघव) तथा 'फलित ज्योतिष' (यशपाल) आदि कहानियों को रखने पर कुछ भी कहने की आवश्यकता

नहीं रह जाती और बात अपने आप स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में सामाजिक दायित्व-बोध के निर्वाह की भावना प्रेमचन्द युग की देन है, न कि 'नई' कहानी की, यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। यह बात दूसरी है कि प्रारम्भ में आधुनिक कहानी का मूल उद्देश्य भी यही था, पर धीरे-धीरे उसमें भी दो धाराएँ होती गईं और वह सामाजिक दायित्व-बोध के निर्वाह की भावना से आत्म-परक विश्लेषण की ओर ही मुड़ी, हाँ १९६० के बाद इस प्रवृत्ति में पुनः परिवर्तन के आसार दृष्टिगोचर होते हैं और अनेक लेखकों का प्रयत्न आधुनिक कहानी को फिर से सामाजिक दायित्व-बोध के निर्वाह की भावना से सम्बद्ध कर देने की दिशा में परिलक्षित होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान किया गया है, यहाँ उसे दुहराना अनावश्यक रूप से पिष्टपेषण मात्र होगा। सामाजिक प्रतिबद्धता की भावना से ओतप्रोत इस धारा के लेखकों ने प्रेमचन्द के नेतृत्व में हिन्दी कहानी को एक सुदृढ़ आधार ही नहीं प्रदान किया, वरन् उसे अभिनव रूप प्रदान किया, जो साहित्य की दृष्टि से सर्वथा एक नई बात थी।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, **प्रेमचन्द** इस युग के आधार-स्तम्भ थे। इस युग की सारी उपलब्धियाँ एवं सम्भावनाएँ उनमें सन्निहित थीं। वे एक प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में समाज के प्रवक्ता थे। उन्होंने साहित्य को जीवन की व्याख्या एवं आलोचना के रूप में ही स्वीकारा था और उसका मानदण्ड उपयोगितावाद निश्चित किया था। व्यापक सामाजिक कल्याण की भावना से ओतप्रोत और विराट मानवतावादी दृष्टिकोण से पूरित प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप में मान्यता दी थी और यह मानकर चले थे कि व्यक्ति की सारी समस्याएँ, उसका व्यक्तित्व, अहं, मूल भावधारा एवं आत्म-चेतना, सभी कुछ सामाजिक परिधि में ही बनती-बिगड़ती है और वह समाज के प्रति महती भावना लिए उत्तरदायी होता है। इसलिए उनके लिए साहित्य की संज्ञा समाज-सापेक्ष्य मात्र थी, उससे हटकर कुछ नहीं।

उनके लिए अहंवाद एवं वैयक्तिकता की भावना अर्थहीन थी, क्योंकि वे स्वीकारते थे कि हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति रूप में उपयोगी है और न समुदाय रूप में। कहना न होगा, उनके लिए 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का कोई महत्त्व न था। वे कला को जीवन के लिए मानते थे और उनके पूरे साहित्य की आधारशिला यही दृष्टिकोण है। उनका विचार था कि साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रहती, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग रूप में देखता है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ इन्हीं भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। उन्होंने अपने जीवन में तीन सौ के लगभग ही कहानियाँ लिखीं जिनमें सभी का स्तर बहुत ऊँचा नहीं है। इसका कारण यह है कि वे आर्थिक विषमताओं मे जूझने वाले लेखक थे और प्रायः परिस्थितियों की बाध्यता के कारण व्यावसायिक दृष्टिकोण से उन्हें कहानियाँ लिखनी पड़ती थीं। ऐसी कहानियों का स्तर स्वाभाविक रूप से बहुत अच्छा नहीं बन पड़ा है। लेकिन इतना होने के बावजूद अपनी सभी कहानियों में प्रेमचन्द का दृष्ठिकोण इसी प्रकार का है, उस पर उन्होंने कोई आघात नहीं आने दिया है। उनकी कहानियों का मुख्य सम्बन्ध मध्य वर्ग से है, जिनमें अनमेल विवाह की समस्या, विधवा विवाह की समस्या, वेश्या वृत्ति एवं मद्यपान की समस्या, सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली के विघटन की प्रवृत्ति, पूंजीवादी शोषण एवं बूर्जुआ मनोवृत्ति, आर्थिक वैषम्य एवं असमानता, कृषि की समस्या, जमींदारों और कृषकों के सम्बन्ध, ऋण एवं महाजनी सभ्यता, एकता की भावना का अभाव तथा मूल्य-मर्यादा रहित जीवन की विडम्बनाओं का मूल कारण, राष्ट्रीय जागरण एवं नैतिक उत्थान, सामाजिकता की भावना के ह्रास एवं धर्म की समस्या आदि अनगिनत

समस्याएँ हैं जिन पर प्रेमचन्द की कहानियाँ आधारित हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने जीवन के बहुविधिय पक्ष स्पर्श किए और कदाचित् तत्कलीन मध्यवर्गीय जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं था जिसे उन्होंने स्पर्श न किया हो। उनकी कहानियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

१—मनोवैज्ञानिक कहानियाँ ('कफ़न', 'पूस की रात', 'बड़े भाई साहब' और 'मनोवृत्ति' आदि कहानियाँ)

२—सामाजिक कहानियाँ ('पंच-परमेश्वर', 'बैंक का दिवाला', 'दुर्गा का मन्दिर', आदि असंख्य कहानियाँ)

३—चरित्र-प्रधान कहानियाँ ('बूढ़ी काकी', 'दो बहनें' आदि कहानियाँ)

४—ऐतिहासिक कहानियाँ ('रानी सारंधा', 'राजा हरदौल', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ)

५—राजनीतिक कहानियाँ ('सत्याग्रह' तथा ऐसी अन्य कहानियाँ)

६—पारिवारिक कहानियाँ ('बड़े घर की बेटी')

प्रेमचन्द कभी शिल्प-चमत्कार के चक्कर में नहीं पड़े। उनके पास कहने के लिए सीधी-सादी यथार्थ बातें थीं, जिन्हें गढ़ने या काल्पनिकता को यथार्थ का रंग देने के सायासपन की कोई आवश्यकता न थी। उनके पास जीवन-तत्त्वों की भरमार थी जिन्हें यथार्थ की वाणी देना उनका काम था। जिनके पास कहने को कुछ नहीं होता, वस्तुतः गढने या यथार्थता का आभास दिलाने की दिशा में पच्चीकारी की आवश्यकता उन्हें ही होती है। उन्होंने बहुत ही सहज एवं स्वाभाविक ढंग से अपनी बातें कहने की चेष्टा की है। हाँ, यह स्मरण रखना आवश्यक है, जब तक उनके मस्तिष्क में आदर्श और यथार्थ की दो अलग-अलग धाराएँ क्रियाशील थीं और आदर्शवाद के प्रति उनकी गहन् आस्था थी, तब तक उनकी कहानियों में अन्त तक पहुँचते-पहुँचते अस्वाभाविक मोड़ देने की प्रवृत्ति और यांत्रिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना की अतिशय उत्सुकता परिलक्षित

होती है। इन कहानियों में शिल्प का हल्कापन उन्हें लचर बना देता है और वे वैसी गढ़ी हुई सुसंगुफित कहानियाँ प्रतीत नहीं होतीं जैसी कि उनकी अन्तिम दौर की कहानियाँ। उनकी अधिकांश कहानियों में एक प्रमुख दोष असन्तुलन का भी है। उन्होंने कहानियों में भी अवांतर कथाओं की संयोजना की है और विराट परिधि को समेटने की चेष्टा की है। वास्तव में उन्होंने अपने साहित्य के लिए जीवन का विशाल चित्रपट चुना था और मानव-जीवन से बहु-विधिय पक्षों को संस्पर्श देकर व्यापक आयामों को स्थान देना चाहते थे। इस प्रक्रिया में उनकी बहुत-सी कहानियों में दुहरे-तिहरे कथानक देने की सी शैली मिलती है। इन कहानियों में विराट जीवन के यथार्थ की विस्तृत कल्पना तो मिलती है,पर प्रेमचन्द जहाँ हिट करना चाहते थे, वह बिन्दु बहुधा सशक्तता एवं प्रभावशीलता से स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसका एक दूसरा कारण यह भी है कि प्रेमचन्द में स्थूलता बहुत अधिक थी और विवरण देने की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से थी। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ वर्णनात्मक शैली में हैं। इनमें जहाँ विषय वस्तु को अनावश्यक विस्तार मिला है, वहाँ पात्रों के साथ भी उचित न्याय नहीं हो पाया है, जिसके कारण ये पात्र बहुधा कैरीकेचर या निर्जीव कठपुतली मात्र बनकर रह गए हैं, जिन पर प्रेमचन्द की विचारधारा इतने सशक्त रूप में आधारित हो गई है कि उसके नीचे दबे वे पात्र कभी परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ पाते। इन कहानियों में एक विशेष प्रकार का मैनरिज़्म प्राप्त होता है जिससे प्रेमचन्द बच नहीं पाते।

किन्तु उनसे सर्वथा भिन्न उनकी कहानियों का दूसरा वर्ग है, जिसमें हर लिहाज से चुस्त एवं दुरुस्त कहानियाँ हैं। उनमें स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है और बारीक-से-बारीक बातों को भी उभारने की समर्थता दृष्टिगोचर होती है। 'बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्ति', 'नशा', 'पूस की रात', 'पंच परमेश्वर' तथा 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं जिनमें संतुलित कथानक और

इकहरे शिल्प का विधान प्राप्त होता है। उनमें कथानक और पात्रों का सामंजस्य बड़े कुशल एवं प्रौढ़ ढंग से किया गया है तथा पात्रों की स्वाभाविकता का निर्वाह भी बड़ी दक्षता के साथ हुआ है। इन कहानियों में पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण और मनोवैज्ञानिक ऊहा-पोह का भी चित्रण मिलता है। पर द्रष्टव्य यह है कि उन्होंने कभी ऐसा करने में व्यक्ति की महत्ता को समाज की तुलना में अधिक महत्व-पूर्ण सिद्ध करने की चेष्टा न तो की और न वैयक्तिकता की सीमा को ही स्पर्श करने का प्रयत्न किया। यह एक बड़ी बात थी और अन्तर एवं वाह्य का समष्टिगत जीवन चिन्तन के आधार पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इन कहानियों के पात्र उन्होंने जीवन के यथार्थ से चुने हैं, और वे प्रमुख रूप से जातीय पात्र हैं, जो उनकी जैसी विचारधारा वाले लेखक के लिए अत्यन्त स्वाभाविक बात है। इन पात्रों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक कल्याण एवं मानवता-वादी दृष्टिकोण प्रतिपादित करने की सफल चेष्टा की है। वे स्वीकारते थे कि मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों में है। जिस काम से मनुष्य-समाज को क्षति पहुँचती है, वह पाप है। जिससे उसका उपकार होता है, वह पुण्य है। सामाजिक अपकार या उपकार से परे हमारे किसी कार्य का कोई महत्व नहीं है और मानव-जीवन का इतिहास शुरू से सामाजिक उपकार की मर्यादा बाँधता चला आया है। भिन्न-भिन्न समाजों और श्रेणियों में यह मर्यादा भी भिन्न है।

पीछे पृष्ठभूमि वाले अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि पाश्चात्य सभ्यता के संस्पर्श से किस प्रकार एक नए मध्य वर्ग का उदय हो रहा था, जो नवोत्थान की भावना से ओतप्रोत था और पुरातनत्व एवं नवोन्मेष की भावनाओं के संधि-स्थल पर खड़ा हुआ था। वह विभ्रान्त भी था और आगे बढ़ने के लिए आकुल भी। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में इसी मध्य वर्ग को प्रमुखता प्रदान की और एक-एक

कहानी में उसके जीवन की प्रमुख समस्याएँ लेकर उन्हें दिशोन्मुख करने का ही प्रयत्न नहीं किया, वरन् अनेक विषम समस्याओं का अपने ढंग से समाधान प्रस्तुत कर उनका सुधार करने की भी चेष्टा की। वस्तुतः राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सुधारवादी भावना ही उनकी कहानियों का मूलाधार है, जिसकी भित्ति पर सारी कहानियाँ संगुफित हुई हैं। यही नहीं, भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की चेष्टा की। अभी तक भाषा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। प्रेमचन्द से पूर्व भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न अवश्य किया था, पर सुनिश्चित रूप से भाषा को गरिमा देने में वे असमर्थ रहे थे। प्रेमचन्द ने पहली बार भाषा को यथार्थ स्वरूप देकर उसे व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया, जिससे तत्कालीन कहानी-साहित्य को अभूतपूर्व लोकप्रियता पाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भाषा को मुहावरे-दानी एवं रवानी से ओजस्वी तथा प्राणवान बनाने, अर्थ की गरिमा से पूर्ण करने और मर्यादित रूप देने का बहुत बड़ा श्रेय प्रेमचन्द को ही है—यही विशेषताएँ उनकी कहानियों की अर्थवत्ता को गम्भीर बनाती है। इस प्रकार प्रेमचन्द की कहानियों में 'नएपन' की वे सारी विशेषताएँ लक्षित होती हैं, जिन्हें आधुनिक कहानी के 'नएपन' के दावे में प्रायः सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। उनमें परम्परा के प्रति विद्रोह है, नई भाषा को अपनाने का आग्रह है, स्थूलता से सूक्ष्मता एवं सामाजिक परिधि में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की प्रवृत्ति है, सामाजिक दायित्व-बोध के निर्वाह की भावना है और मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने और चित्रित करने की प्रयत्नशीलता है—इन सबसे अधिक उनमें समष्टिगत चिंतन की अभिव्यक्ति है, महती कल्याणकारी भावना है और एक विराट मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' प्रमुखतः प्रेमचन्द की ही प्रवृत्तियों को लेकर आगे बढ़ने वाले कहानीकार हैं। वे मूलतः आदर्शवादी थे और

समाज-कल्याण की भावना में ही उनकी गहन आस्था है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से नैतिकता एवं जीवनगत मूल्य-मर्यादा-सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रश्न उठाए और उनका समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की। उन्होंने अधिकांश रुप में घटना-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं और वे घटनाएँ दैनिक सामाजिक या पारिवारिक जीवन से ली गई हैं। इन घटनाओं का संगुफन करने में उन्होंने अभूतपूर्व क्षमता का परिचय दिया है और चरमोत्कर्ष के बिन्दु तक पँहुचने की प्रक्रिया में रोचकता एवं कुतूहल बनाए रखने और सहजता तथा स्वाभाविकता की रक्षा करने में भी उन्हें अपार सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुत: 'कौशिक' ने अपनी कहानियों में घटनाओं की अवतारणा एक विशेष उद्देश्य से की है और उनके माध्यम से जीवन के विविध रंगों का यथार्थ परिचय देने का प्रयास किया है। यद्यपि कई कहानियों में ये घटनाएँ ऊपर से आरोपित, फलस्वरूप सारी कहानी को असंतुलित बनाते हुए उनके प्रभाव को शून्य करती हुई प्रतीत होती है, पर अधिकांश रूप में अपने उद्देश्य को सशक्तता से स्पष्ट करने में वे सफल रहे हैं।

इस युग के दूसरे कहानीकारों की भाँति सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं से कौशिक का अच्छा परिचय था और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से उनका यथार्थ चित्रण करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई है। पारिवारिक जीवन के उन्होंने अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं, जिनमें बड़ी मार्मिकता एवं प्रभावशीलता है। 'कौशिक' को पाठकों का हृदय स्पर्श करने में कुशलता प्राप्त थी और वे बड़ी सूक्ष्मता से ऐसी घटनाएँ एवं प्रसंग उठाते थे जिनसे वे मर्मस्पर्शिता की उद्‌भावना कर सकें इसलिए उनकी कहानियों में मानवीय संवेदनशीलता का आग्रह अधिक प्राप्त होता है। उनकी कहानियों में भी मध्य वर्ग को ही प्रधानता मिली है और मध्यवर्गीय जीवन की बहु-विधिय समस्याओं को यथार्थता के साथ उभारने की चेष्टा मिलती है। पर यह मध्य वर्ग प्रेमचन्द की कहानियों की भाँति अधिकांशत: निम्न-मध्य वर्ग नहीं है, वरन् मध्य-

वर्ग है और सन्तान न होने, पारिवारिक अशांति, सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा आदि के विघटन, सामंती मनोवृत्ति एवं आर्थिक वैषम्य की समस्याएँ प्रमुख रूप से इन कहानियों में चित्रित हुई हैं। 'कौशिक' का शिल्प भी सीधा-सादा और सहज है। उन्होंने अधिकतर इकतरफ़े शिल्प का ही प्रयोग किया है, हालाँकि उनकी भी अधिकांश कहानियाँ वर्णनात्मक शैली में हैं। 'कौशिक' को मानव-मनोविज्ञान का भी अच्छा परिचय था और अपनी कहानियों में उन्होंने अनेक पात्रों के चरित्र में सूक्ष्म मानव-मनोविज्ञान के आधार पर ही चरित्र परिवर्तन करने की चेष्टा की है। यह प्रयत्नशीलता उनकी 'ताई' आदि चरित्र-प्रधान कहानियों में अधिक मिलती है, जिनमें उन्होंने प्रभावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक ढंग से चरम-परिवर्तन उपस्थित किया है। उनके पात्र मध्य वर्ग के हैं और उनमें यथार्थ प्रवृत्तियों का समावेश कुशलता से किया गया है। उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का आग्रह तो उनमें मिलता ही है, उनके वाह्य व्यक्तित्व को भी सूक्ष्मता से उभारने की चेष्टा की गई है और दोनों का सामंजस्य स्थापित करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। अधिकांशतः उन्होंने कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का चित्रण ही अपनी कहानियों में किया है और सामाजिक विकृतियों एवं मानव की विकृत भावनाओं तथा दुर्गुणों का सूक्ष्म अध्ययन कर बड़ी कुशलता से अभिव्यक्ति प्रदान की हैं। इसीलिए ये कहानियाँ विराट सामूहिक भावना को लिए हुए हैं।

'कौशिक' की कहानियों के पात्र ऐसे चरित्रों का सूक्ष्म उद्‌घाटन करते हैं जो मानवी होते हुए भी एकदम नवीन प्रतीत होते हैं। कथोपकथनों द्वारा वे पात्रों की मानसिक परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं और मानव संवेगों को स्पष्ट करने में सफल होते हैं। उनके कथोपकथन संक्षिप्त, स्वाभाविक और भावों के अनुकूल होते हैं। उनमें हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति तथा चुटीलापन तो है ही, पात्रों के व्यक्तित्व से उनका समन्वय स्थापित करने में भी वे सफल रहे हैं। भाषा उनकी साफ़-सुथरी

और मुहावरेदार है। कौशिश आदर्शवाद की ओर झुके हुए कहानीकार हैं। यद्यपि समस्याओं का निर्वाह एवं पात्रों के व्यक्तित्व का समाधान उन्होंने यथार्थ ढंग से करने की चेष्टा की है, पर उनकी मूल भाव-धारा चूंकि आदर्शवादी एवं सुधारवादी थी, इसीलिए अनेक कहानियों में समस्याओं का समाधान यांत्रिक आदर्शवाद के आधार पर होने के कारण वे कृत्रिम बन पड़ी हैं। 'गल्प मन्दिर', 'चित्रशाला', 'प्रेम-प्रतिमा', 'कल्लोल' आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

जयशंकर 'प्रसाद' का आधुनिक कहानी-लेखकों में अपना विशेष स्थान है। उन्होंने अपनी कहानियाँ राष्ट्रीयता और सुधारवाद से प्रेरित होकर नहीं लिखीं। उनकी कहानियाँ अधिकतर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर स्थित रहती हैं। उनकी कहानियाँ प्रायः भाव-प्रधान और कल्पना-प्रधान होती हैं और वह पाठकों के हृदय को अधिक स्पर्श करती हैं, बुद्धि को नहीं। उनकी कहानियों में मनुष्य का हृदय अधिक प्रस्फुटित हुआ है, उसका वाह्य जीवन नहीं। कवि होने के नाते उनकी अनेक कहानियों में काव्यत्व भी आ गया है और भाषा, प्रकृति का मानवीकरण आदि विशेषताएँ भी उनकी कविताओं के अनुरूप हो गई हैं। कथा-भाग उनकी कहानियों में कम रहता है। वास्तव में 'प्रसाद' आंतरिक सौन्दर्य पर ज़ोर देने वाले कहानी-लेखक हैं। उनकी कहानियों का वातावरण अद्भुत कवित्व-शक्ति से ओतप्रोत रहता है। 'प्रसाद' ने कुछ घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और ऐतिहासिक तथा यथार्थवादी कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी सब प्रकार की कहानियों में खण्डकाव्य का-सा आनन्द आता है। विविध प्रकार की परिस्थितियों में उनके पात्रों का चरित्र प्रस्फुटित होता है। नाटकीयता उनकी अपनी विशेषता है। वास्तव में अपनी कहानियों में वे अपना कवि और नाटककार का रूप नहीं छोड़ सके। नाटककार होने के कारण उनके कथोपकथनों में नाटकीय सौन्दर्य और अर्थ-गाम्भीर्य मिलता है। साथ ही उनसे घटना-विकास और पात्रों के चरित्र-विकास पर भी प्रकाश पड़ता है। उत्सुकता और कुतूहल द्वारा वे कहानी का

सौन्दर्य बढ़ा देते हैं। शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि की दृष्टि से उनकी भाषा में सौष्ठव और परिमार्जन है। 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी', 'इन्द्रजाल' और 'छाया' आदि उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

'प्रसाद' की विचारधारा व्यक्तिवादी है। इस दृष्टि से वे प्रेमचन्द की विचारधारा से भिन्न कहानीकार हैं। उन्होंने जीवन के वीभत्स रूप से अपने को बहुत आहत पाया था और इससे उनकी सौन्दर्य-भावना को बहुत आघात पहुंचा था। प्रेम और सौन्दर्य उनकी मूल भावना थी और जीवन का कठोर यथार्थ इसकी मोहक काल्पनिकता में अन्तर्विरोध उपस्थित करता था, जिसका समाधान उन्होंने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न किया। अपनी कहानियों के माध्यम से उन्होंने व्यक्ति तथा समाज की वास्तविक स्थिति स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने व्यक्ति को महत्व तो दिया है, पर न तो समाज की सत्ता को पूर्णतया अवांछनीय बताया है और न उसकी उपेक्षा की है। दूसरी ओर व्यक्ति को उन्होंने इतनी दूर नहीं पहुँचा दिया है कि उसमें घोर आत्मपरकता की भावना विकसित हो जाय। उन्होंने वस्तुतः व्यक्ति और समाज में यथासम्भव संतुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्हें अनेक अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई है। उन्होंने जीवन के सांस्कृतिक तत्वों की पुनः स्थापना करने की चेष्टा इन कहानियों के माध्यम से की है। यह दूसरी बात थी कि जिस काल का कथानक उन्होंने अपनी कहानियों में उठाया था, क्या उस काल में भारतीय जीवन में कोई सांस्कृतिक तत्व शेष भी था, विशेषतया उस रूप में, जिस रूप में कि 'प्रसाद' ने इन कहानियों में उभारने और चित्रित करने की चेष्टा की है। वे प्रेम के स्वच्छन्द रूप के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्ध के हिमायती नहीं थे। पर स्मरण रहे, यह स्वच्छन्द प्रेम उस प्रकार का नहीं है, जिस रूप में आगे चलकर 'अज्ञेय' या जैनेन्द्रकुमार ने अपनाया। वे स्वच्छन्द प्रेम के पक्षपाती तो अवश्य थे, प्रेम के आदर्श और पवित्रता के प्रति भी अस्थावान् थे। वास्तव में मनुष्य-चरित्र के प्रति उनकी आगाध

श्रद्धा थी और उसे सांस्कृतिक तत्वों से पूरित पोषित कर इस योग्य बना देते थे कि प्रेम की उच्छृङ्खलता की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। उनके लिए व्यक्ति का व्यक्ति से प्रेम मात्र एक शारीरिक आकर्षण अथवा वासना के रूप में न होकर दो हृदयों का मधुर मिलन ही था। इसीलिए यथार्थ की कठोरता एवं सामाजिक विषमताओं के मध्य भी अपनी कहानियों के माध्यम से उन्होंने व्यक्ति की गरिमा स्थापित करने की चेष्टा की। अपने पात्रों में उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि निरन्तर मानवीय गुण खोजने के प्रति ही आग्रहशील रहती है। मानव-सम्बन्धों का उद्घाटन करने और व्यक्ति के मन का विश्लेषण करने में भी उन्हें बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। सब मिलाकर उनकी कहानियाँ चित्र हैं—यथार्थ के नहीं, काल्पनिकता एवं भावुकता के, जिनमें मोहक स्वप्नशीलता है और सरसता है। इसीलिए, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, उनकी कहानियाँ हृदय स्पर्श करती हैं, प्रभावित करती हैं, बुद्धि को नहीं। उनमें मानवीय संवेदन-शीलता, चित्र-विधान, प्रतीकों की परिकल्पना आदि बातें मिलती हैं, पर जीवन के कठोर यथार्थ से यथासम्भव बचने की प्रयत्नशीलता भी लक्षित होती हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने यद्यपि अपने जीवन में तीन ही कहानियाँ लिखीं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'। किन्तु अंतिम कहानी ही उनकी कीर्ति का प्रधान स्तम्भ है। यह कहानी चरित्र-प्रधान कहानी है और निःस्वार्थ प्रेम, आत्म-त्याग, बलिदान और वीरता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। इस कहानी को अच्छी तरह समझने के लिए उसका प्रारम्भिक भूमिका-भाग पहले समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रधान पात्र लहनासिंह के चरित्र की कुंजी और सम्पूर्ण कहानी के वातावरण का मूल इसी भाग में है। कथानक का विकास उत्तरोत्तर स्वाभाविक ढंग से होता है। उसमें नाटकीयता है, प्रभाव-ऐक्य है, घटनाओं की सुसम्बद्ध शृङ्खला है, उत्सुकता और कुतूहल है और सुन्दर प्रभावोत्पादक चरम सीमा है। पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय

लेखक को अपनी ओर से कुछ नहीं कहना पड़ता। विविध परिस्थितियों के बीच पड़कर अपने कथोपकथन से वे अपने चरित्रों पर प्रकाश डालते हैं। लहनासिंह का चरित्र-चित्रण निर्दोष और साथ ही कलात्मक है। वह मानवता की उच्च भूमि पर स्थित है। वह संवेदनशील, वीर, निर्भर, निःस्वार्थी, देश-प्रेमी, कर्तव्य-परायण और त्याग-भावना से ओत-प्रोत है। उसकी वीरता यूरोपियन chivalry का स्मरण दिलाती है। गुलेरी जी ने उसके चरित्र द्वारा एक महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। इस कहानी का कथोपकथन अत्यन्त कलात्मक, स्वाभाविक, संक्षिप्त, परिस्थिति के अनुकूल और भावात्मक है। भाषा सरल, मुहावरेदार आडम्बरहीन और प्रभावोत्पादक है। कहानी में शृङ्गार और वीर का निष्कलकं और शुद्ध निरूपण हुआ है।

गुलेरी जी की इस कहानी का यहाँ उल्लेख एक विशेष अभिप्राय से किया है। वे घोषित अथवा प्रचलित अर्थ में कहानीकार न थे, किन्तु 'उसने कहा था' कहानी निश्चित रूप से एक नई ज़मीन तोड़ती है। प्रेमचन्द आदि द्वारा स्थापित परम्परा के प्रति वह निश्चित रूप से विद्रोह था, पर उसे किसी 'नई' कहानी के रूप में नहीं स्वीकारा गया और न मान्यता दी गई। नए शिल्प, नई भाव-धारा, अभिनव कलात्मक कौशल, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण एवं मानस के विश्लेषण, वातावरण के बारीक-से-बारीक रेशों को भी यथार्थता से उभारने की प्रवृत्ति और सारी पृष्ठभूमि को यथार्थ के नए रंग देने की आकुलता, सब मिला कर यह हिन्दी की एक चिरस्मरणीय कहानी ही नहीं बन गई, वरन् एक नई दिशा का सूत्रपात भी करती है। गुलेरी जी के पास एक मानवतावादी दृष्टिकोण था, अनुशासन एवं संयम था, देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता की चरम भावनाएँ थीं, पवित्र एवं आदर्श प्रेम की महत्ता थी और वीरता तथा ओजस्विता था–इन सबको एक कहानी में उन्होंने जिस प्रौढ़ता संगुफित किया है उसे देखकर आश्चर्य होता है–विशेषतः उस युग के सन्दर्भ में, जब कि कहानियों की मूल भावधारा ही भिन्न

प्रकार की थी। सैनिक वातावरण अथवा युद्ध की पृष्ठभूमि को लेकर मैंने आज तक इतनी प्रभावशाली कहानी नहीं पढ़ी। नई का दावा करने वाले कहानीकारों की पीढ़ी में स्वदेश पर तीन-तीन आक्रमण हुए—१९४७-४८ में कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण, १९६२ में चीन का नेफ़ा और लद्दाख़ पर आक्रमण और १९६५ में पुनः कश्मीर और छम्ब पर पाकिस्तान का आक्रमण क्या नृशंस हत्याओं, मानव-संहार और युद्ध की भयंकर गति ने हमारे किसी भी नए कहानीकार को प्रभावित नहीं किया ? अभी हाल ही में श्रीमती विजय चौहान की एक कहानी 'मुजाहिद' पढ़ने को मिली इसके पूर्व चीनी आक्रमण के समय उनकी एक कहानी 'शहीद की माँ' प्रकाशित हुई थी। पर इन दोनों ही कहानियों में युद्ध का आभास है, युद्ध नहीं। इस दृष्टि से गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी आज भी महान है। नई कहानी को यह चुनौती स्वीकार कर गतिशील होना है।

सुदर्शन ने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ अधिक लिखीं हैं। उनकी कहानियाँ बड़े शांत और गम्भीर ढंग से आगे बढ़ती हैं। उत्सुकता और कुतूहल उनकी कहानियों में विशेष रूप से पाया जाता है। उनकी दृष्टि मानव-जीवन के साधारण पहलुओं की ओर गई है। उनकी कला का वास्तविक रूप हमें उनकी वातावरण-प्रधान कहानियों में मिलता है, जिसमें वे मनुष्य के सूक्ष्म मानसिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। उन्होंने पुराण-शैली में सामयिक सत्यों की व्यंजना भी की है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे प्रेमचन्द के समीप हैं—यथार्थ से आदर्श की ओर। उनके कथोपकथन सुन्दर और स्वाभाविक हैं और भाषा व्यावहारिक। 'परिवर्तन', 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थयात्रा', 'फूलवती', 'चार कहानियाँ' तथा पनघट' आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। सुदर्शन की कहानियों की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी संवेदनशीलता है। उनमें रसग्राह्यता उपलब्ध तो होती ही है, मर्मस्पर्शी प्रसंगों की अभिव्यंजना भी उन्होंने बड़े प्रभावशाली ढंग से की है। उनकी कहानियों में

भावुकता का मधुरस घुला रहता है। अपने पाठकों को भावुकता के अविरल प्रवाह में बहा ले जाने की उनमें अद्भुत क्षमता है। चित्र-विधान के अनुरूप उन्होंने शब्दों का चयन इस कुशलता से किया है कि वे सरस कोमलता उत्पन्न करते हैं और कहानियों में व्याप्त भावुकता की वृद्धि करते हैं।

सुदर्शन का जीवन के यथार्थ से परिचय तो था, यह उनकी बाद की कहानियों में लक्षित होता है, पर मूलत: वे आदर्शवादी कहानीकार थे। आदर्शवाद और सौन्दर्य सत्य की प्रतिष्ठापना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। उन्होंने मानव-जीवन के बहु-विधिय पक्षों का संस्पर्श करते हुए अपने चतुर्दिक् दृष्टिकोण एवं क्षमता का परिचय देने की चेष्टा की तो है, पर उनमे वे वह यथार्थ नहीं फूंक पाए हैं, जो प्रेमचन्द की अपनी विशेषता थी। कठोर यथार्थ से प्राय: बचने की प्रवृत्ति के कारण ही उनकी अधिकाँश कहानियाँ काल्पनिक भावुकता का निर्माण करती हैं और हृदय को स्पर्श कर उस पर अपना प्रभाव डालने में सफल होती हैं, पर बुद्धि को स्पर्श नहीं कर पातीं और न कोई स्थायी प्रभाव डालने में ही समर्थ होती हैं। उन्होंने प्रेम-कहानियों में यह दृष्टि विशेष रूप से अपनाई है और उनमें सरसता एवं प्रवाह की ओर ही विशेष ध्यान दिया है, इसलिए यदि सुदर्शन की कहानियों के पात्र जीवन के यथार्थ व्यक्तियों के स्थानापन्न प्रतीत हों, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। उन्होंने उन्हीं पात्रों को चुना है, जो भावुक हैं, काल्पनिक संसार में विचरण करते हैं और एक विचित्र प्रकार की स्वप्नशीलता लिए रहते हैं। उन्होंने उनका चित्रण भी इसी काल्पनिकता से आदर्शवादी आधार पर किया है। यद्यपि यथासंभव उन्हें यथार्थता का आभास देने के योग्य बनाने की उन्होंने चेष्टा तो की है, पर वस्तुत: वे यथार्थ हैं नहीं, निर्जीव ही रह जाते हैं। हाँ उन्हें मर्यादित और संयमित रखने की दिशा में उनकी निरन्तर प्रयत्न-शीलता लक्षित होती है। मनोविज्ञान का प्रयोग पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट करने में उन्होंने किया है और उनके अन्तस् तथा वाह्य का

सामंजस्य स्थापित करने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उनकी कहानियाँ वस्तुतः भावुकता का अथाह सागर हैं, उनमें प्रशान्तता है, स्वप्निल संसार है और कल्पना की ऊँची उड़ाने हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं; पर उनकी ऐतिहसिक कहानियाँ ही अधिक प्रसिद्ध हुई हैं—उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सामाजिक विकृतियों, असमांनता एवं सामन्ती मनोवृत्ति, राष्ट्रीयता, देशप्रेम, त्याग एवं बलिदान, निःस्वार्थ प्रेम तथा सहकारिता पर आधारित व्यापक कल्याण की भावनाओं को अपनी कहानियों में चित्रित करने का प्रयास किया है। उनकी सृजनशीलता का महत्व इस बात में सन्निहित है कि उसके द्वारा लेखक से समाज और पाठक को कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिए। जनमत में दिव्यता लाने का सवेग उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है। इतिहास के तथ्य और जन-परम्पराओं में उन तथ्यों के प्रति श्रद्धा उसके साधन हैं। वर्मा जी का दृष्टिकोण मुख्यतया आदर्शवादी है और उनका उद्देश्य 'राक्षस की हार और देवता की विजय' है। उन्होंने अपनी प्रेरणा के स्रोत भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं एवं उनकी मर्यादा में खोजे हैं और अन्वेषित आदर्श तथा सत्य को आधुनिक जीवन के परिवर्तित सन्दर्भों एवं सर्वथा अभिनव परिप्रेक्ष्य में समन्वित करने की चेष्टा की है और इसमें उन्हें पर्याप्त अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई है। वास्तव में सम्पूर्ण नया उन्हें स्वीकार नहीं है और न पुरातनत्व की सभी दिशाएँ ही उन्हें ग्राह्य हैं। उन्होंने इन दोनों सीमाओं के मध्य वह विचार-तत्व ग्रहण करने का और अपनी कहानियों में चित्रित करने का प्रयास किया है, जो परिवर्तित परिस्थितियों में नवीन सूत्रों से समर्थित हो और साथ ही संस्कृति की मर्यादा के अनुरूप भी हो। उनका यह संतुलित रूप उनकी कई कहानियों में सफलतापूर्वक उभरा है।

अपने युग के दूसरे कहानीकारों की भाँति वर्मा जी ने भी अपनी

कहानियों में कोई शिल्प-प्रयोग नहीं किया है और न शिल्प-चमत्कार के प्रति उनका कोई विशेष आग्रह ही है। शिल्प की दृष्टि से उनकी कहानियों के दो वर्ग हो सकते हैं। एक वर्ग तो उन कहानियों का है जो किस्सागोई शैली में लिखी गई हैं, जिनमें राजा-रानी वाली कथाओं की शैली में सारी कहानी पूरी सहजता के साथ कहने का प्रयास है। इनमें बहुत प्रवाह है और चरमोत्कर्ष के प्रति विशेष सजगता प्रदर्शित की गई है। दूसरा वर्ग उन कहानियों का है जिनमें प्रेमचन्द की वर्णनात्मक शैली का प्रयोग है। इन कहानियों में उनकी सामाजिक कहानियाँ अधिक हैं और उनमें किसी-किसी विचार-तत्व को प्रधानता दी गई है। ये कहानियाँ पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्मा जी के पास पहले से ही कोई बना-बनाया समाधान या सत्य है, जिसे स्पष्ट करने के लिए ही सारा कथानक संगुफित किया गया है। यह संगुफन बहुधा बहुत कृत्रिम और अविश्वसनीय प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उस पूर्व-निश्चित समाधान या सत्य को पा लेने की चेष्टा में वर्मा जी इतने आतुर से हो जाते हैं कि उस दिशा में किसी-न-किसी प्रकार शीघ्रातिशीघ्र पहुँच जाने की कोशिश करते हैं। ये कहानियाँ आदर्श की दृष्टि से ठोस कहानियाँ हैं और प्रत्येक दो-तीन वाक्य के उपरांत या हर पैरे में किसी-न-किसी सत्य, सूत्र या आदर्श को खोज निकालने की चेष्टा की गई है, जो बड़ा असंगत और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। वर्मा जी की अधिकांश कहानियाँ घटना-प्रधान हैं और घटनाओं का संगुफन केवल एक ही उद्देश्य से किया गया है. और वह यह कि चरमोत्कर्ष अधिक-से-अधिक रोचक प्रतीत हो। इन घटनाओं में बहुधा एकसूत्रता भंग हो गई है या वे अप्रासंगिक हैं, जिनका मुख्य पात्रों या कथानक से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। जहाँ तक पात्रों एवं चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, वर्मा जी के पात्रों में आदर्श अधिक है, यथार्थ कम। उनमें सौम्यता, शालीनता, कर्मठता, कर्तव्यपरायणता, राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, त्याग-बलिदान और मानवता

आदि गुण इतने ठूँस ठूँसकर भरे गए हैं कि प्राय: वे देखने में तो अच्छे लगते हैं, पर वस्तुत: वे निर्जीव पात्र हैं और वर्माजी के आदर्श प्रतिष्ठापना की भावना पर बलिदान होने वाली कठपुतलियाँ मात्र ही बनकर रह गए हैं। चरित्र-चित्रण में सारी प्रयत्नशीलता लेखक की ओर से ही लक्षित होती है, इसीलिए यदि उसमें कोई नाटकीयता न दृष्टिगत हो, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

वास्तव में वर्मा जी की कहानियाँ फ़ॉर्मूला-बद्ध कहानियाँ हैं, जिनमें नैतिकता और मानव-मूल्य तथा मर्यादा का स्वर ऊंचा रखने की सायास चेष्टा की गई है, जिसके मूल में वर्माजी की सुधारवादी भावना ही अधिक क्रियाशील रहती है। उनमें सहजता तो है, प्रवाह भी है, पर यथार्थ प्रवृत्तियाँ बहुधा ठोस आदर्श की तुलना में स्पष्टतया उभर नहीं पातीं, इसीलिए उनका सारा प्रयास यांत्रिक ही बनकर रह जाता। चरित्र-प्रधान कहानियों में अवश्य ही कुछ प्रेरणादायक पात्र लेकर उनका स्वाभाविकता के साथ चित्रण करने की वर्मा जी ने चेष्टा की है, जिनमें उन्हें सफलता भी मिली है। पर ये कहानियाँ अधिकांशत: ऐतिहासिक हैं, जिनमें वर्माजी सिद्धहस्त हैं ही, यह बिल्कुल असंदिग्ध बात है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्य लेकर कहानियाँ लिखी और पुराण-शैली में अनेक सामयिक तत्वों की अभिव्यंजना की। 'दोज़ख की आग', 'चिनगारियाँ', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर', 'चाकलेट', 'इन्द्रधनुष', 'निर्लज्ज' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। उग्रजी की कहानियों में सामाजिक विकृतियों एवं कुरूपताओं के विरुद्ध तीव्र असन्तोष एवं विद्रोह की ज्वाला है। उन्होंने समाज की नींव में लगे हुए घुन के प्रति तीव्र आक्रोश ही नहीं प्रकट किया है, वरन् अपनी कहानियों में उन पर कठोर प्रहार भी किए हैं। वास्तव में 'उग्र' ने उस काल में लिखना प्रारम्भ किया था। जब देश स्वाधीन नहीं था और दासता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था ब्रिटिश साम्राज्यवाद

द्वारा इस देश का शोषण ही नहीं हो रहा था, वरन् इस प्राचीन देश की सभ्यता एवं संस्कृति पर भी कठोर प्रहार हो रहे थे, जिससे यहाँ की गौरवशाली परम्पराएँ खण्डित हो रही थीं और मूल्यों के प्रतिमान टूट रहे थे। तथाकथित सभ्य सफ़ेदपोश समाज में अनैतिकता, उच्छृंखलता और अशोभन स्थितियाँ, मदिरापान और फैशनपरस्ती के नाम पर नारी की दुर्गति, पुरुष वर्ग की वासना और नारी की विवशता एवं आर्थिक परतन्त्रता आदि ऐसे नए सूत्र थे जो तत्कालीन परिवेश में उभर रहे थे और भारतीय समाज के परम्परागत रूप के लिए एक जबर्दस्त चुनौती के रूप में थे। इन विकृतियों को ही 'उग्र' ने अपनी कहानियों का आधार बनाया और पूर्ण यथार्थता के साथ प्रस्तुत करने करने की चेष्टा की। हालाँकि यह यथार्थता कहीं-कहीं इतनी गहरी या अतिरंजित हो गई है कि उसे प्रकृतिवाद (Naturalism) की सीमा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'उग्र' का उद्देश्य स्पष्टतया सुधारवाद ही था और उसमें कहीं दुराव-छिपाव नहीं था। इनका उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना था, जिसमें नारी का उचित सम्मान हो, वह आर्थिक रुप से परतन्त्र न हो, पुरुष की वासना और कुचक्रों का शिकार न हो, अनैतिकता या मूल्यों के विघटन का प्रसार न हो और फ़ैशनपरस्ती या पाश्चात्य प्रभाव की लहर में परम्पराओं का हनन न हो। इसके लिए कदाचित् वे यह आवश्यक समझते थे कि इन कुरीतियों एवं विकृतियों को यथार्थ का गाढ़ा रंग चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाय, जिससे पाठकों की आँखें खुल जाएँ और वे सजग रहें। पर इस प्रक्रिया में प्राय: वे लेखकीय सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं और उनका चित्रण अमर्यादित और असंयमित सा प्रतीत होता है। मेरा विचार है कि लेखक समाज का जागरूक प्रहरी होता है और उसका यह दायित्व है कि वह विषमताओं, कुरूपताओं एवं सामाजिक विसंगतियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर उनका मार्ग-प्रर्शशन करे। पर कला का एक सौन्दर्य-बोध होता है,

जो आवश्यक ही नहीं होता, वरन् सृजनशीलता का वह उतना ही अनिवार्य अंग है, जितना कि यथार्थ युग-बोध। बहुधा इन दोनों के अभाव, या असन्तुलन के कारण अच्छी-से-अच्छी रचनाएँ भी निम्नकोटि की हो जाती हैं और गम्भीर-ईमानदार लेखक का उच्चस्तरीय उद्देश्य भी विभ्रांति का शिकार बन जाता है। 'उग्र' के साथ यही हुआ हैं। लेखक का कार्य केवल अवांछनीय तत्वों की ओर संकेत करना मात्र होता है, उसका रसमय चित्रण करना नहीं। संकेतात्मकता में ही उसका सारा कलात्मक कौशल सिमटा रहता है। स्पष्ट है कि 'उग्र' ऐसा करने में असफल रहे हैं, इसीलिए प्राय: उनकी कहानियाँ अतिरंजित प्रतीत होती हैं और अशोभन होने का आभास देती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'उग्र' ने अपनी कहानियों के कथानक सामाजिक विकृतियों एवं विसंगतियों से ही चुने हैं। उनमें गुंडों, वेश्याओं, कुपथगामी स्त्रियों, विधवाश्रमों, मठों और भिखारियों आदि वर्गों को प्रधानता मिली है। उनकी कहानियाँ या तो घटना-प्रधान हैं या वातावरण-प्रधान। बहुलता घटना-प्रधान कहानियों की है। उन्होंने घटनाएँ यथार्थ जीवन से चुन कर उन्हें बड़ी सजीवता से संगुफित करने की चेष्टा की है। जिन पात्रों को उन्होंने चुना है. वे यथार्थ हैं और सामान्य-मानव जीवन के स्थानापन्न बन गए हैं। उनका यथार्थ चरित्र-चित्रण करने में 'उग्र' ने अदभुत क्षमता प्रदर्शित की है और उन्हें सजीव कर दिया है। कथानक और पात्रों के व्यक्तित्व में सामंजस्य बनाए रखने की तरफ भी उनका ध्यान बराबर रहा है और इसमें उन्हें बहुत सफलता भी प्राप्त हुई है। उनके पात्र सजीव शक्तस और आकर्षक होते हैं और कथोपकथन सरल, संक्षिप्त और स्पष्ट। इन कथोपकथनों में उग्रता, आक्रोश और आग है, जिसमें उनकी सुधारवादी भावना ही छिपी हुई होती है। उनकी भाषा हृदय की चुटकी लेने वाली वक्र और स्वच्छन्द होती है। कहानीकार की अपेक्षा 'उग्र' एक भाषा-शैलीकार अधिक हैं।

नई कहानी के सन्दर्भ में यहाँ एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि 'उग्र' पर प्रायः अति-यथार्थवादी होने का आरोप लगाकर **प्रकृतिवादी** (Naturalist) होने तक का फ़तवा दे दिया गया था। उनका साहित्य भी 'घासलेटी' नाम से पुकारा गया। स्वातंत्र्योत्तरकाल में नई कहानी के दावेदारों ने परम्परा से विद्रोह कर, नई दिशा और भावभूमि ग्रहण कर, कहानी को अभिनव अर्थवत्ता देने का विश्वास दिलाने का प्रयास किया है पर खेदजनक बात यह है कि इस स्वातंत्र्योत्तर काल में भी 'उग्र' की ही शैली में अनगिनत कहानियाँ लिखी गई हैं, जिनमें 'घासलेटीपन' और 'उच्छृङ्खलता' है तथा असयंमित चित्रण है। इस सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' तथा 'एक कही हुई कहानी' निर्मल वर्मा की 'अन्तर', श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा', शैलेश मटियानी की 'दो दुःखों का एक सुख', मार्कण्डेय की 'पक्षाघात', मोहन राकेश की 'सेफ़्टीपिन' और कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ' कुछ ऐसी ही कहानियाँ हैं जिन्हें 'उग्र' की कहानियों की शैली से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सभी कहानियों में जीवन का यथार्थ ही चित्रित हुआ है, पर इन या उन कारणों से (जिन्हें केवल लेखक जानता है, है, पाठक नहीं) उन पर यथार्थ का गाढ़ा और अतिरंजित मुलम्मा चढ़ाने की चेष्टा की गई है, जो सीमा का इतना अतिक्रमण कर जाती हैं कि उनमें कला का कोई सौन्दर्यबोध रह ही नहीं जाता। कहानी के लिए सौन्दर्य-बोध उतना ही आवश्यक है, जितना कि यथार्थ युगबोध। दोनों मिलकर किसी कहानी को प्रभावशाली ही नहीं बनाते, वरन् श्रेष्ठ भी बनाते हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी मनोविज्ञान के आधार पर असाधारण सामाजिक परिस्थितियों के बीच पात्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। उनकी कहानियों में कथानक नाममात्र के लिए होता है। वे

घटनाओं और प्रसंगों की ओर संकेत मात्र करते चलते हैं। साधारण पाठकों के लिए उनकी कहानियाँ कुछ दुरुह अवश्य हो जाती हैं। चित्रोपमता, स्वाभाविकता, व्यावहारिकता, भाषा का सौन्दर्य आदि बातें उनकी कला की विशेषताएँ हैं। 'खाली बोतल', 'हिलोर', 'पुष्करिणी' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

बाजपेयी जी की मूल विचारधारा व्यक्तिवादी है, पर उनमें घोर-आत्मपरकता नहीं है। उन्होंने जीवन के यथार्थ को निकट से देखा है और उस पर अपने ढंग से सोचा-समझा और विचार किया है। इस यथार्थ के मूल कारणों को खोज निकालने की प्रक्रिया में उन्होंने उसकी कटुता एवं भयंकरता का पात्रों पर पड़ने वाले प्रभावों का सूक्ष्म विश्लेषण करने की भी चेष्टा की है। उनकी कहानियाँ स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ी हैं और उन्होंने जीवन के यथार्थ परिवेश में सामाजिक विसंगतियों के बीच बनने-बिगड़ने वाले मानव-व्यक्तित्व और उसकी विभिन्न भाव-धाराओं तथा मन:स्थितियों को मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रित किया है और इसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इस प्रकार बाजपेयी जी की कहानी-कला की मूल विचारधारा भी सुधारवादी एवं आदर्श की प्रतिष्ठा करना है, यद्यपि इसे उन्होंने थोड़े भिन्न ढंग से सम्पादित करने का प्रयास किया है। जीवन के कठोर यथार्थ से परिचित करा कर सामाजिक विकृतियों के प्रति पाठकों को सचेत करने के लिए उन्होंने उपदेशक का मुखौटा नहीं लगाया, वरन् एक तटस्थ एवं निर्वैयक्तिक कलाकार की भाँति सूक्ष्म-से-सुक्ष्म बातों को प्रस्तुत भर किया है। यद्यपि प्रारम्भ में उनमें प्रेमचन्द की परम्परा से प्रभावित होकर आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति थी, पर शीघ्र ही उन्होंने कला का वास्तविक रूप पा लिया और मनोवैज्ञानिक आधार पर सहज-स्वाभाविक कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया, जो उनकी सफल कहानियाँ हैं।

बाजपेयी जी ने मुख्य रूप से मध्यवर्गीय जीवन से ही अपनी कहा-नियों के कथानक चुने हैं और व्यक्ति तथा समाज और उनकी व्यक्तिगत

समस्याओं को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। व्यक्ति की समृद्धिशीलता में समाज स्वयमेव विकसित एवं गतिशील होता है—उनका ऐसा विश्वास है और उनकी कहानियों में यह भावना सर्वत्र व्याप्त मिलती है। व्यक्ति के दुःख से वे कातर हो उठते हैं और सुख की मंगल-कामना अपना उद्देश्य बना लेते हैं। उसके सुख-दुःख के दो बिन्दुओं के मध्य ही उन्होंने अपनी कला विकसित की है। उनकी कहानियों में व्यक्ति अक्सर अवसाद-ग्रस्त रहता है और त्याग एवं सहिष्णुता का परिचय देता हुआ कष्ट सहन करता रहता है। इसका उन्होंने बड़ी भावुकता, पर अपूर्व संवेदन-शीलता से चित्रण किया है। उन्होंने अपने को सत्य सुन्दरता का उपासक बताया है, क्योंकि पुरुष और स्त्री में परस्पर आकर्षण ही प्रेम के स्वरूप को निर्धारित करता है। वे स्वीकारते हैं कि प्रेम कभी विकृत नहीं होता, वह सदैव एकरस रहता है। कहना न होगा कि सरस स्थितियों का चित्रण उन्होंने बड़ी भावुकता से किया है और इस प्रकार की कहानियों में भावना का प्रवाह इतना अतिरंजित हो गया है कि उनके पात्र निर्जीव-से हो गए हैं—वे काल्पनिक स्थितियों में विचरण करते हैं और उन्हें ही सत्य का पर्याय मान लेते हैं। इस प्रकार बहुधा ह्रासोन्मुख जीवन-चित्रण की यथार्थता के स्थान पर ह्रासोन्मुख कला का विकास होने लगता है और वे कहानियाँ कदाचित बाजपेयी जी की कला का सबसे दुर्बल पक्ष उपस्थित करती हैं। खेद की बात यह है कि इस प्रकार की कहानियों की संख्या अधिक है।

जैसा कि ऊपर संकेत दिया जा चुका है, बाजपेयी जी की कहानियों में कथानक नाममात्र को होता है और वे केवल मनोवैज्ञानिक उहापोहों तथा पात्रों की विभिन्न मनःस्थितियों तथा उन पर पड़ने वाली प्रतिक्रियाओं से सारे कथानक का ढाँचा निर्मित करते हैं। स्पष्ट है, इस प्रक्रिया में बौद्धिकता का आग्रह अधिक रहता है और वे कहानियाँ दुरूह हो जाती हैं। उनमें सांकेतिकता और अमूर्त विधान अधिक आ जाता है। अपने पात्रों का चित्रण करने में भी उन्होंने इसी सांकेतिकता और अमूर्तता का आश्रय

लिया है और नाटकीयता लाने की भरसक चेष्टा की है। इसी समय जैनेन्द्र जी ने लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उनकी कला की बड़ी धूम मची हुई थी। जैनेन्द्र जी का बाजपेयी जी पर यथेष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है, यद्यपि उनमें जैनेन्द्रजी जैसी कलात्मक प्रौढ़ता या शिल्प-कौशल लक्षित नहीं होता, पर अपनी बाद की कहानियों में वे उनके अधिक निकट हैं। इसी प्रसंग में यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि सांकेतिकता, अमूर्तता और बौद्धिकता का आग्रह जैसे गुणों को आज की कहानी ने भी अपनाया है और उसे 'नए' के नाम पर स्वीकारा है, पर ऐतिहासिक सन्दर्भ में यह बात अपने आप ग़लत और भ्रामक सिद्ध हो जाती है। इन प्रवृत्तियों को बहुत पहले ही अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार, बाजपेयी जी आदि अनेकानेक कहानीकारों ने अपनाया था और इस शैली में अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी थीं। इस सन्दर्भ में मोहन राकेश की 'पाँचवे माले का फ़्लैट', कमलेश्वर की 'ऊपर उठता हुआ मकान', नरेश मेहता की 'तथापि', राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ', निर्मल वर्मा की 'परिंदे', मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी', सुरेश सिनहा की 'टकराता हुआ आकाश', रवीन्द्र कालिया की 'क ख ग' आदि कहानियाँ देखी जा सकती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कहानियों के कथ्य नए हैं, जो समय के परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी था, पर उनकी सांकेतिकता कथानकहीनता, अमूर्तता, बौद्धिकता का आग्रह आदि प्रवृत्तियाँ 'नई' नहीं हैं, उन्हें जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और भगवतीप्रसाद बाजपेयी आदि कहानीकार पहले ही अपना चुके थे।

चतुरसेन शास्त्री भी हिन्दी के पुराने कहानी-लेखक हैं और उन्होंने अनेक कहानियाँ समाज की जीर्णशीर्ण अवस्था को प्रकाश में लाने के लिए लिखीं। उनकी कहानियाँ छोटी, आकर्षक, कुतूहलपूर्ण, हृदय को गुदगुदाने वाली और मानव हृदय के रहस्यों का उद्घाटन करने वाली होती हैं। उन्होंने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं और उनमें वाता

वरण से पूर्ण कथानक की सृष्टि कर अनुपम सौन्दर्य उपस्थित किया है। उनके पात्रों में स्वतन्त्रता है। लेखक ने उनके मनोभावों को समझने की चेष्टा की है। उनमें अद्भुत वर्णन-शक्ति है। तद्भव शब्दों, मुहावरों, व्यावहारिकता आदि गुणों से सम्पन्न उनकी भाषा उनके कथोपकथनों में जान डाल देती है। 'अक्षत', 'रजकण', 'दे खुदा की राह पर', 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'भिक्षुराज' तथा 'ककड़ी की कीमत' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उनकी ऐतिहासिक कहानियों का एक प्रसिद्ध संग्रह 'सिंहगढ़ विजय' है। इस प्रकार शास्त्री जी की कहानियों के दो प्रमुख वर्ग है—सामाजिक कहानियाँ और ऐतिहासिक कहानियाँ। सामाजिक कहानियों में उन्होंने जीवन का यथार्थ चित्रित करने की चेष्टा है। सामाजिक विकृतियों, फ़ैशन और विलास तथा नारी के अध:पतन से उन्हें बड़ी चिढ़ थी और इसे उन्होंने अपनी कई कहानियों का आधार बनाया था। पुरुषों के कुपथगामी होने और समाज के नैतिक ह्रास भी उनकी कहानियों में चित्रित हुए हैं। इन कहानियों में सामाजिक विसंगतियों पर उनका इतना अधिक आक्रोश प्रकट हुआ है कि उनका यथार्थ वर्णन कहीं-कहीं बहुत अतिरंजित हो गया है और उच्छृङ्खलता तथा असंयमित एवं अमर्यादित स्थितियों का चित्रण करने में उन्होंने कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची है। इस दृष्टि से वे 'उग्र' के अधिक निकट हैं। इस यथार्थवादी चित्रण के कारण उन्हें 'उग्र' की ही भाँति आक्षेपों का शिकार बनना पड़ा था। कला का सौन्दर्य-पक्ष उपेक्षणीय हो जाने के कारण ये कहानियाँ बहुत संतुलित नहीं हैं।

उनकी कहानियों का दूसरा वर्ग ऐतिहासिक कहानियों का है, जो उनकी सफल कहानियाँ हैं। उन्होंने महामानव का निर्माण करना अपनी कला का लक्ष्य बनाया था, क्योंकि उनकी धारणा थी कि साहित्य कला का चरम विकास है और समाज का मेरुदण्ड। धर्म और राजनीति का वह प्राण है, इसलिए इसमें दो गुण होने अनिवार्य हैं। एक यह कि वह आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे और दूसरे वह मानवता का धरातल

ऊँचा करे। अपनी ऐतिहासिक कहानियों में इस विचारधारा को सजीव रूप देने के लिए शास्त्री जी ने अनेक ऐसे पात्रों की रचना की,जो भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं, और मूल्य-मर्यादा का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं, उनमें आधुनिक तत्वों को भी समाहित करने में उन्होंने विशेष कलात्मक कौशल प्रदर्शित किया है, जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा भी है कि सत्य में सौन्दर्य का मेल होने से उसका मंगल रूप बनता है। यह मंगल ही हमारे जीवन का ऐश्वर्य है। इसी से हम लक्ष्मी को केवल ऐश्वर्य की ही देवी नहीं, मंगल की भी देवी मानते हैं। उनकी ऐतिहासिक कहानियों की सबसे प्रमुख विशेषता वातावरण-निर्माण की अद्भुत क्षमता है। 'सिंहगढ़ विजय' की अधिकांश कहानियाँ इसका प्रतीक हैं। उन्होंने जिस किसी भी काल का कथानक उठाया, उसे सजीव कर दिया और ऐतिहासिक यथार्थवाद (Historical Realism) को बड़ी सफलता से उभारा। ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी उन्होंने उस काल की व्यक्तिगत विशेषताओं, आचार-व्यवहार, लोक-संस्कृति एवं सामाजिक परम्पराओं का विशेष ध्यान रखा है, जिसके कारण वे पात्र यथार्थ प्रतीत होते हैं और अपने काल का प्रतिनिधित्व करने में पूर्णतया सफल होते हैं। शास्त्री जी की कहानियों में ऐतिहासिक रस प्राप्त होता है और उन्हें संवेदनशीलता से ओतप्रोत करने में उनकी कला खूब निखरी है।

भगवतीचरण वर्मा ने भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से हिन्दी की कहानी कला को समृद्ध किया है। किसी चीज़ की तह तक पहुँचना, उसके वास्तविक रूप को समझना वे अच्छी तरह जानते हैं। कहानी कहने का उनका ढंग अत्यन्त मनोरंजक, कल्पनापूर्ण और आकर्षक है। उनके द्वारा वे किसी ऐतिहासिक या सामाजिक सत्य की व्यंजना करते हैं, जिसमें व्यंग्य का पुट रहता है। उनकी कहानियों में पात्र बहुत कम होते हैं। किन्तु उनमें मांसलता रहती है। उनके कथोपकथन चटकीले और अनूठे

हैं। वर्माजी पर आधुनिक वैज्ञानिक युग द्वारा उत्पन्न बौद्धिकता और फलतः असन्तोष का प्रभाव है। उनकी कहानियाँ पाठकों के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाने में सफल होती हैं। 'दो बाँके' तथा 'इंस्टालमेन्ट' उनकी कहानियों के प्रसिद्ध संग्रह हैं।

वास्तव में सामाजिक चेतना और जीवनगत संघर्ष एवं विद्रोह ने भगवती बाबू को कथा-साहित्य की ओर खींचा और इसके लिए उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से चली आ रही सुदीर्घ और प्रेमचन्द द्वारा पुष्ट परम्परा उन्हें प्राप्त थी। इसीलिए उनकी कहानियों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना उभरी है। उनमें व्यक्ति और समाज के परस्पर संघर्ष की भावना निरंतर विद्यमान रहती है। प्रेमचन्द और भगवती बाबू की जीवनियों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों कलाकारों को जीवन के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने अपनी कुरूपता के साथ-साथ समाज की कुरूपता भी देखी। जीवित रहने की प्रेरणा दोनों में बनी रही। दोनों ने बहुत से सपने देखे और मिटाए भी। अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करते हुए ही दोनों कलाकारों ने साहित्य में प्रवेश किया। किन्तु प्रेमचन्द तो अपने व्यक्तिगत जीवन की कटुता को अपने समाज-दर्शन से पृथक् रखने में समर्थ हो सके थे, भगवती बाबू ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने अपने सपने मिटाए; अपनी आँखों से मस्ती का पागलपन मिटाया और अनास्था से भरा व्यंग्य उनकी आँखों में झलकने लगा। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में व्यंग्य ही जीवन का एकमात्र सत्य है। काल और परिस्थति के झोंकों में लगातार डूबते-उतराते रहने कारण उन्हें कार्य-कारण, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि तत्वों का निरीक्षण करने की आदत पड़ गई है। भगवती बाबू में जीवन-शक्ति का अभाव तो नहीं है, किन्तु जीवन के संघर्ष ने उनमें संशय, अविश्वास और आत्मतुष्टि की भावना उत्पन्न कर दी है। नियंता के आश्रित रहने के कारण वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। उनकी मान्यता है जो मैं करता हूँ, वह करने को विवश हूँ; बाध्य

हूँ। जो होना है, वह हो चुका है। परिस्थितियों के संघर्ष के बीच नियंता ने ही उन्हें बचाया, ऐसा उनका विश्वास है। प्रेमचन्द ने अपना निजी रूप इतना दबा दिया था कि वह उनके साहित्य में शायद ही कहीं झाँकता दिखाई देता हो। भगवती बाबू दूसरों के सत्य के साथ-साथ अपना सत्य कभी नहीं भूले। वे दोनों में समन्वय के पक्षपाती भले ही हों, किन्तु प्रेमचन्द की भाँति दूसरों का सत्य उनके सामने कभी प्रमुख नहीं रहा।

जीवन-सम्बन्धी परिस्थितियों के प्रभाव के अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भगवती बाबू का साहित्यिक जीवन कवि के रूप में प्रारम्भ हुआ। वह युग छायावाद का युग था, संक्रमण काल था; वस्तुवादी कविता के प्रति विद्रोह था। जयशंकर 'प्रसाद', पंत और 'निराला' के नाम हिन्दी में उजागर हो रहे थे। बिहार में जनार्दन झा द्विज और मोहनलाल महतो 'वियोगी', मध्यप्रदेश में जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' और कानपुर में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा भगवतीचरण वर्मा ख्याति प्राप्त कर रहे थे। १९३० में भगवती बाबू ने सोचा कि कवि की अपेक्षा कथाकार के रूप में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हो सकेगी। वैसे १९३० के पूर्व भी उन्होंने कुछ निबंध-कहानी आदि की रचना की थी, किन्तु उस समय कविता ही उनके साहित्यिक जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण किए हुए थी। किन्तु कविता से आर्थिक संकट या आजीविका की समस्या सुलझते न देख विवश होकर उन्हें उपन्यास-कहानी की ओर आना पड़ा। पैसा तो उन्हें प्रारम्भ में अधिक न मिला, किन्तु उनमें आत्म-विश्वास अवश्य बढ़ा। धीरे-धीरे वे कविता के प्रति उदासीन होते गए। उन्होंने परिस्थितिवश कविता छोड़ने की बात स्वयं स्वीकार की है। इसका उन्हें खेद भी है, क्योंकि प्रगतिवादी, प्रयोग-वादी कविताएँ तो, उन्हीं के शब्दों में, दिन में दस-पाँच लिखी जा सकती हैं। उनका यह भी विचार है कि भावना के व्यक्तीकरण में गद्य में उपन्यास और कहानी सबसे अधिक सक्षम सिद्ध हुए हैं, अतः उनका

प्रचार भी अधिक है। वर्तमान युग को वे कविता का युग स्वीकारते ही नहीं हैं।

वैचारिक दृष्टि से भगवती बाबू बुद्धिवादी हैं। ज्ञान के अतिरिक्त और किसी देवता पर उनका विश्वास नहीं। बुद्धि ही मनुष्य को पशु से अलग करती है। उनका विश्वास है कि बुद्धि का विकास मानवता का चरम विकास (!) है। वैसे बुद्धि द्वारा बहुत-सी बातें नहीं समझी जा सकती, जैसे, सृष्टि का रहस्य, तो भी बुद्धि निम्न स्तर की चीज़ नहीं। मनुष्य में कुरूपता और अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है। इसलिए नहीं कि बुद्धि अर्द्ध-विकसित है, वरन् इसलिए कि मनुष्य मन की कमज़ोरी को बुद्धि की कमजोरी कह डालता है। ('बुद्धिवादी होने के कारण न मुझे धर्म पर विश्वास है, न उपासना पर।') उनका विश्वास है कि बुद्धि से ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, वहाँ अपनी पशुता पर विजय प्राप्त नहीं कर सका। पशुता मुँह चमकाती ही रहती है। जीवन में भावना का महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्धि उसका नियंत्रण करती है। बुद्धि ने पशुता को थोड़ा-सा दबाया अवश्य है, किन्तु पशुता कभी-कभी उभड़ कर बुद्धि को अपना साधन बना कर महा-नाश का ताण्डव नृत्य करती है। पूर्ण विकास के लिए मनुष्य को अपने पर विश्वास करना चाहिए। वह स्वयं कर्ता है; स्वामी है। बुद्धि द्वारा मनुष्य को अपनी विवशता नामक कमजोरी से लड़ना है। जटिल समस्याओं के वर्तमान युग में यह और भी आवश्यक है। इन सब बातों के साथ-साथ भगवती बाबू ने 'अहं' और 'अहंमन्यता' पर भी विचार किया है। लेखक चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अहंमन्यता छोड़ कर अहं का विकास करे, क्योंकि अहं व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। अहं और दूसरों के पार्थक्य से अहंमन्यता उत्पन्न होती है। अहंमन्यता सीमित और अविकसित अहं का गुण है, जिसमें बुद्धि और 'ज्ञान' जो मानवता के लिए वरदान स्वरूप हैं, अभिशाप बन जाते हैं। हमारी आज की दुरवस्था का मूल कारण, लेखक की दृष्टि में, यह सीमित और संकुचित

अहं है। मानवता का यह अभिशाप कैसे दूर हो? लेखक का मत है कि अहं को असीमत्व प्रदान करना, दूसरों का दूसरा न समझकर अपना समझना—यही अहं का विकास है और यही अहंमन्यता का विनाश है। अपने जीवन के साथ संघर्ष, भूख और बेकारी से संघर्ष करते हुए भगवती बाबू ने आत्मसम्मान और 'अपनेपन' की रक्षा की और यद्यपि वे बहुत दिनों तक खोते ही खोते रहे, पाया कुछ नहीं, तो भी अहं को असीमत्व प्रदान करने की दृष्टि से उन्हें एक सत्य मिल गया। भगवती बाबू यह स्वीकारते हैं कि मनुष्य का अपना हित कठोर सत्य है। किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य का एक और पहलू होता है—वह है दूसरों का सत्य। प्रत्येक कार्य का निजी पहलू बुरा नहीं है; अच्छा भी नहीं। वह प्राकृतिक है। मनुष्य अपने को संतुष्ट करना चाहता है; यह भी स्वाभाविक है। दूसरों का रक्त चूसने वाला और महादानी दोनों ही आत्मतुष्टि की दृष्टि से अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं, यह सत्य है। किन्तु दूसरों का हित मानवता का सत्य है। अपने लिए तो पशु भी जीता है। जो उससे ऊपर उठा हुआ है, वही मनुष्य है। सीमित अहं पशुता के निकट और मानवता से दूर है। अपने सत्य और मानवता के सत्य का सामंजस्य उपस्थित करना ही अहं को असीमत्व प्रदान करना है। संक्षेप में, भगवती बाबू सैद्धांतिक दृष्टि से नियतिवाद, परिस्थितियों के चक्र और अहं के असीमत्व इन तीनों बातों में विश्वास करते हैं। उनका यह जीवन-दर्शन जीवन के व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित है, न कि तात्विक चिंतन पर और उसमें परस्पर विरोध है। नियति और परिस्थिति के चक्र की बात उठा कर अहं के विकास की चर्चा करना बेतुका सा लगता है। भले ही कुछ लोग उनके इस जीवन-दर्शन को अपंगु बनाने वाला समझें; भले ही कोई उनसे सहमत न हो, किन्तु भगवती बाबू किसी को बाध्य नहीं करते, और न बाध्य करने का उन्हें अधिकार है।

परस्पर विरोध के रहते हुए भी भगवती बाबू का जीवन-दर्शन अपने में बहुत बुरा नहीं है। किन्तु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ,

उनकी अधिकांश कहानियों में यह जीवन-दर्शन ठीक तरह खप नहीं पाया। फलतः उनकी अनेक रचनाओं और उनके जीवन-दर्शन में एक प्रकार का वैचारिक अलगाव पाया जाता है। उनमें 'किस्सा' कहने की प्रतिभा खूब है। उनकी कहानियों में ठोस कथानक पाया जाता है और उसका संगुफन वे बड़े ही कुशल ढंग से करते हैं; जिससे कहानियों में नाटकीयता की प्रवृत्ति अधिक आ जाती है। कथा-संगठन की दृष्टि से भगवती बाबू ने रोमांटिक यथार्थवाद का आश्रय लेते हुए उसे प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्तता प्रकट की है। उनकी अनेक कहानियाँ वर्णनात्मक शैली में हैं जिनमें प्रेमचन्द की कहानियों की भाँति स्थूलत्व है। लेखक मनोवैज्ञानिक गहराइयों में नहीं जाता। घटनाओं और पात्रों को ज्यादा नहीं कुरेदता; उनके सूक्ष्म पक्ष नहीं उभारता। वह केवल मोटी-मोटी बातों और बाह्य पक्ष का चित्रण करके रह जाता है। इससे उनकी अधिकांश कहानियाँ यदि एकांगी लगें, तो विस्मय नहीं होना चाहिए, क्योंकि क़िस्सागोई और ठोस कथानक देने की परम्परा से मोह होने के कारण वर्मा जी ने मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व और ऊहा-पोहों का सूक्ष्म चित्रण करने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया।

यशपाल मार्क्सवादी या प्रगतिवादी कहानी लेखक हैं और उन्होंने जीवन के विविध संघर्षों का सजीव, किन्तु वर्गगत, चित्रण किया है। जीवन की विविध परिस्थितियों का चित्रण भी, ऐसा प्रतीत होता है, उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर किया है। मानव-भावनाओं से वे भलीभाँति परिचित हैं और उनका सूक्ष्म विश्लेषण करना उनकी विशेषता है। 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफ़ान', 'चित्र का शीर्षक', 'फूलों का कुर्ता' तथा 'तुमने क्यों कहा था। मैं सुंदर हूँ' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यशपाल की विचारधारा समाजवादी है। उन पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने मुख्यतया

मध्यवर्गीय जीवन के पात्रों को ही अपनी कहानियों में लिया है। यह वर्ग ऐसा था, जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित था और बौद्धिक था। उस समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद फैला हुआ था, जिसका प्रथम और अंतिम उद्देश्य ही शोषण था। वे विदेशों से आए थे और यहाँ की धन-सम्पदा को अधिक-से-अधिक लूट कर अपने देश ले जाना चाहते थे। थॉम्पसन और गैरेट ने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ में भारत की संज्ञा उस पैगोडा वृक्ष से दी है, जो उस समय तक हिलाया गया, जब तक कि वह पूर्णतया नष्ट नहीं हो गया। यह पूंजीवाद का बहुत नग्न नृत्य था और इस बूर्जुआ मनोवृत्ति से भारत में दयनीय स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ज़मींदार इन पूँजीपतियों के पिट्ठू थे और उन्हें शोषण करने की खुली छूट थी। इससे वर्ग-वैषम्य, असमानता उत्पन्न हो गई थी और वर्गों का कृत्रिम विभाजन हो गया था। वितरण पर कुछ थोड़े-से मुट्ठी भर लोगों का अधिकार था और सारे उद्योग-व्यवसाय पूँजीपतियों के हाथों में थे, जिससे सारी अर्थ-व्यवस्था विशृंखलित हो गई थी। इससे निर्धनता का अभिशाप बहुत गहन् रूप में सर्वत्र व्याप्त हो गया था। इस स्थिति के प्रति सचेत एक बौद्धिक वर्ग था, जिसमें विद्रोह की भावना व्याप्त थी और जो क्रान्ति का पक्षपाती था। यही वर्ग उसके प्रभाव में काल था, जब भारत में मार्क्स के विचार लोकप्रिय होने लगे थे। यह आया और पूँजीपतियों के विरुद्ध उसने एक नई दिशा ग्रहण की। साहित्य में इस विचारधारा को अर्थवत्ता प्रदान करने वालों में यशपाल प्रमुख हैं।

यशपाल की कई कहानियों में नारी को प्रधानता मिली है। उनकी धारणा है कि पूँजीवादी समाज में नारी भोग-विलास की सामग्री समझी जाती है, जिस पर पुरुष का पूरा अधिकार होता है और उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता, मर्यादा या गौरव शेष नहीं रहा जाता। उसका वास्तविक अस्तित्व किसी की पुत्री, श्रीमती और माता बनने में है, जहाँ वहअपना निजत्व खो देती है और वह विलास का साधन मात्र रह जाती

है। उन्होंने यह भी कहा है कि समाज में नारी को उसके व्यक्तिगत नाम से पुकारना उसका अपमान है। उसके जीवन का उद्देश्य पति को रिझाना और सन्तान का पालन करना है। विवाह में भी उसका दान किया जाता है। यशपाल की इस धारणा से पूर्णतः सहमत होना कठिन है। व्यवहार में लोगों का चाहे जो भी आचरण रहा हो, सिद्धान्ततः भारतीय समाज और परम्परा में नारी हमेशा श्रद्धा की पात्री रही है और उसे उचित सम्मान प्रदान किया जाता रहा है। धार्मिक काल से आज तक नारी मात्र विलास की सामग्री नहीं समझी गई, वरन् मातृत्व का दायित्व वहन करने वाली गौरवशालिनी नारी समझी जाती है। यदि उसकी कोई दुर्गति हुई भी है या हो रही है तो वह आधुनिकता या फ़ैशनपरस्ती के नाम पर आकर या तो स्वयं नारी ही कर रही है, या पुरुष वर्ग की स्वार्थपरता। मार्क्स की विचारधारा का यह अभिप्राय नहीं है कि वह प्रत्येक देश में बिना वहाँ की स्थानीय परम्पराओं, संस्कृति अथवा जीवन-पद्धतियों का ध्यान रखे ज्यों-का-त्यों स्वीकार लिया जाए। यशपाल की कठिनाई यही है की उन्होंने मार्क्सवाद को बड़े रूढ़ अर्थों में स्वीकारा है और इस बात का कभी ध्यान नहीं रखा है कि उसका समन्वय भारतीय जीवन-पद्धति, यहाँ की प्राचीन संस्कृति की गौरवशाली परम्परओं से किस प्रकार किया जा सकता है। उन्होंने बस उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर यहाँ लागू करने की चेष्टा की है, इसीलिए साहित्य उनके लिए मुख्यतया सिद्धान्त-प्रतिपादन और मार्क्सवाद का विश्लेषण करने का साधन है। उनकी अधिकांश कहानियाँ अस्वाभाविक, नीरस और बोझिल इसीलिए प्रतीत होती है, क्योंकि उनमें घटनाओं का संगुफन ही सायास ढंग से इस विश्लेषण के लिए किया गया है।

यशपाल प्रगतिशीलता के पक्षपाती हैं। उनके मत से प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के विकास के मार्ग में आने वाली अन्धविश्वास, रुढ़िवाद की अड़चनों को दूर करना है, समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करना है। कार्यक्रम में प्रगतिशील क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का

साधन बनना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर कर मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देना साहित्य का मार्ग है। कहना न होगा कि यशपाल की कहानी कला का मूल आधार यही विचारधारा है।

उनकी कहानियों के कथानक वर्ग-वैषम्य, आर्थिक विषमता, असमानता और प्रेम पर ही आधारित हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक चित्रण या मानसिक ऊहा-पोहों के चित्रण के प्रति उनका आग्रह उतना लक्षित नहीं होता, जितना स्थूल कथानक देकर किसी वैचारिक सत्य या यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करने के प्रति। उनकी कहानियों में समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) का रूप मिलता है और उन्होंने जीवन के यथार्थ से पात्रों को लेकर उसका स्थानापन्न बना देने का सफल प्रयत्न किया है। उनके कथोपकथनों में भी बड़ी सजीवता रहती है और उनके माध्यम से उन्होंने पूँजीवादी बूर्जुआ मनोवृत्ति और सामाजिक विकृतियों एवं विसंगतियों पर कठोर मर्मान्तिक प्रहार किए हैं जिनमें उनका तीव्र आक्रोश प्रकट हुआ है। यशपाल ने वातावरण-प्रधान कहानियाँ और चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं, पर उन कहानियों में भी उनका आग्रह समाजवादी यथार्थवाद के चित्रण और मार्क्सवादी दर्शन की प्रतिष्ठापना के प्रति ही अधिक रहा है। यशपाल की भाषा भी यथार्थ गुणों को लेकर विकसित हुई है, जिसमें बड़ा प्रवाह, रवानी और संजीदगी है।

यशपाल के सन्दर्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जिस प्रगतिशील दृष्टिकोण, सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना और सामाजिक संचेतना के साथ युग-बोध को चित्रित करने के माध्यम से 'नई ज़मीन तोड़ने' की बात 'नई' कहानी में उठाई जाती है, उस परम्परा का सूत्रपात वास्तव में प्रेमचन्द ने और विकास यशपाल ने किया, 'नई' कहानी ने नहीं। प्रेमचन्द और यशपाल की परम्परा से पूर्णतया प्रभावित

कहानीकार भीष्म साहनी, अमरकान्त और सुरेश सिनहा हैं। यद्यपि ये तीनों ही कथाकार प्रगतिशीलता की दृष्टि से प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं और यशपाल की भाँति रुढ़ अर्थों में मार्क्सवादी नहीं हैं, पर दृष्टि का जहाँ तक प्रश्न है, उन पर यशपाल ने भी गहरा प्रभाव डाला है। भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत', अमरकान्त की 'हत्यारे' तथा सुरेश सिनहा की 'नया जन्म' कहानियाँ इसी मिश्रित परम्परा की देन हैं, जिनमें नए कथ्य का होना स्वाभाविक ही है, पर वे उस मिश्रित परम्परा का विद्रोह तो निश्चित रूप से नहीं ही हैं।

अमृतलाल नागर की कहानियाँ भी यथार्थ जीवन को लेकर लिखी गई हैं, जिनमें उनकी सजग सामाजिक चेतना और सूक्ष्य अर्न्तदृष्टि का परिचय मिलता है। 'लंगूरा', 'जुएँ' आदि कहानियों में यथार्थ की पकड़ और युगीन भाव-बोध को समझने की उनकी अद्‌भुत क्षमता का परिचय प्राप्त होता है। नागर जी की कहानियाँ शास्त्रीय अर्थों में ही देखी जाएँगी। उनमें ठोस कथानक प्राप्त होता है, नाटकीय ढंग से चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है और यथार्थ जीवन से पात्रों को लेकर किसी विशेष संदेश का वाहक बनाने की प्रयत्नशीलता लक्षित होती है। नागर जी की कहानियाँ मुख्यतया दो वर्गों में आती हैं—घटना-प्रधान कहानियाँ और वातावरण-प्रधान कहानियाँ। घटनाओं का संगुफन करने में उनकी दृष्टि चरमोत्कर्ष को अधिक-से-अधिक नाटकीय और सनसनी-खेज़ बनाने के प्रति अधिक रहती है, पर इस प्रक्रिया में कहानी की स्वाभाविकता को दृष्टि से ओझल नहीं कर देते, वरन् यथार्थ को साथ-साथ लेकर चलते हैं। वास्तव में यह एक कठिन कार्य है और बहुत प्रौढ़ शिल्प की माँग है, जिसे नागर जी ने बड़ी दक्षता के साथ निबाहा हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनमें कथा कहने की प्रतिभा ख़ूब है और व्यंग्य की पैनी शक्ति है। उनकी कहानियों का मूलाधार भी मध्यवर्गीय जीवन है और मध्यवर्ग में व्याप्त रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, मिथ्या दम्भ एवं अहंकार, दिखावे की प्रवृत्ति आदि विभिन्न समस्याओं की मूल बातों

को उन्होंने बड़ी कुशलता और अधिकार से अपनी कहानियों में उजागर किया है और उसके प्रभाव को गहरा बनाने के लिए अपनी व्यंग्य-शक्ति का बड़ी सफलता से प्रयोग किया है। वातावरण-प्रधान कहानियों में वातावरण निर्माण की क्षमता भी नागर जी ने बड़ी सफलतापूर्वक प्रदर्शित की है और सजीव तथा यथार्थ वातावरण के बारीक-से-बारीक रेशों को स्पष्ट करने में प्रौढ़ शिल्प का आश्रय लिया है।

नागर जी की मूल विचारधारा वस्तुतः सुधारवादी है और वे मानवतावाद एवं व्यापक आदर्शवाद के समर्थक हैं, पर इसके लिए उन्हें उपदेशक का मुखौटा लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। उनके पास कलात्मक कौशल है, जिसके माध्यम से उन्होंने अपने उद्देश्य को बड़ी सूक्ष्मता से पूर्ण करने की चेष्टा की है। वे समाज-कल्याण की भावना से ओतप्रोत कहानीकार हैं, इसीलिए मंगल एवं सत्य के उद्घोषक हैं। उनका दृष्टिकोण भी प्रगतिशील है, पर वे यशपाल या दूसरे मार्क्सवादी लेखकों की भाँति उसके प्रचारक नहीं, वरन् प्रगतिशील विचारों को जीवन में समन्वित करने वाले कहानीकार हैं और उन्होंने जीवन में नए-पुराने का सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा की है, जिससे स्पष्ट है, उन्होंने सब-का-सब नया नहीं स्वीकार किया है और न सम्पूर्ण पुराना ही स्वीकार है। उन्होंने दोनों ही स्थितियों की उपयोगी बातों को स्वीकार कर उनके समन्वित रूप में ही अपनी प्रगतिशील विचार-धारा का निर्माण करने का प्रयत्न किया है।

रांगेय राघव की असामयिक मृत्यु से हिन्दी का एक तरुण प्रतिभा-शाली लेखक छिन गया। वे एक प्रगतिशील कहानीकार थे, पर मार्क्स-वादी नहीं। वे प्रगतिशीलता के सूत्र भारतीय परम्पराओं में ही खोजना चाहते थे और स्थानीय संस्कृति तथा यहाँ की जीवन-पद्धतियों के अनु-रूप उसका स्वरूप निर्मित करना चाहते थे। उन्होंने मार्क्सवाद के तथाकथित प्रचारकों को अपनी कई भूमिकाओं और लेखों में कोसा है और उन पर कठोर प्रहार किए हैं। वास्तव में वे सच्चे अर्थों में भारतीय

थे और यहाँ की परम्पराओं को पूर्णतया विस्मृत नहीं करना चाहते थे। उनकी धारणा थी, जब तक श्रम करने वाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा, इन्सान और उसकी दुनिया निरंतर ऐसे ही भटकती रहेगी। उसे कहीं भी चैन नहीं मिलेगा। मैं हारा नहीं हूँ, क्योंकि एक बहुत बड़ा सत्य मेरे सामने आ गया है। सारे दुःखों की जड़ अधिकार है। अधिकार एक धोखा है जो मनुष्य को खाए जा रहा है। उनकी कला का मूलाधार यही भावना है, जिसे उन्होंने अपनी कई कहानियों में सफलतापूर्वक उजागर किया है। 'गदल' उनकी अत्यन्त लोकप्रिय रचना है।

रांगेय राघव भी जीवन के कठोर यथार्थ के भोक्ता थे और विषम परिस्थितियों में जिए थे। उनका जीवन निरंतर संघर्षशील था और वे बड़े कर्मठ व्यक्ति थे। संपूर्ण जिजीविषा की भावना ने उन्हें आस्था और संकल्प दिया था जिससे वे जीवन-पर्यन्त विषमताओं से जूझते रहे। इससे उन्हें अनेक सत्य मिले थे, जिसे उन्होंने बड़े यथार्थ ढंग से अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है। उनकी कहानियों में ठोस कथानक मिलता है, जिसके रेशे यथार्थ जीवन से संतुलित किए गए हैं। उन्हें उन्होंने बड़ी स्वाभाविकता से प्रस्तुत किया है। उन्होंने अनेक सजीव पात्रों का सर्जन किया है जो अधिकांशतः मध्य वर्ग के हैं और उनका पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करते हैं। अहिन्दी-भाषा-भाषी होकर भी उनकी भाषा यथार्थ है और उसमें प्रवाह, सजीवता तथा रवानी के गुणों की उन्होंने पूर्ण रक्षा की है।

[२]

प्रारम्भ में जिन दो धाराओं का मैंने उल्लेख किया था, उसमें से एक धारा की विशेषताओं और उसके प्रमुख लेखकों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। दूसरी धारा आत्म-परक विश्लेषण की है। जैनेन्द्र कुमार, 'अज्ञेय' तथा इलाचन्द्र जोशी उसके प्रमुख उन्नायकों में रहे हैं।

यह धारा पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों एवं विद्वानों, विशेषतया फ्रॉयड, ऐडलर और युंग से अत्यधिक प्रभावित रही है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सामाजिक स्वस्थ दृष्टिकोण का बड़ा विघटन होने लगा था और पश्चिमी देशों में युद्ध की भयंकर गति से एक विचित्र प्रकार का भय, निराशा एवं कुण्ठा व्याप्त होने लगी थी जिसने जीवन से पलायन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। यह भावना साहित्य में भी आई और कलाकार जीवन के यथार्थ को अथवा जीवन-संघर्ष से जूझते रहने की जिजीविषा से कतराने लगा, क्योंकि समस्याएँ दिन-प्रतिदिन जटिल होती जा रही थीं। विकृतियाँ एवं विषमताएँ बढ़ रही थीं तथा छोटे-छोटे दायरों में अनेक अन्तर्विरोध उत्पन्न होने लगे थे—इसका उसके पास न तो कोई उत्तर था, न कोई समाधान, और मजे की बात तो यह है कि इस ओर वह उन्मुख भी नहीं होना चाहता था। ऐसी स्थिति में अस्वस्थ मनोविकारों एवं मानस के अन्तस् के उद्‌घाटन में अधिक रुचि प्रकट की जाने लगी और फलस्वरूप विकारग्रस्त, पंगु एवं गतिहीन पात्रों का निर्माण हुआ, जिसमें इन तथाकथित कलाकारों ने केवल ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के ही दर्शन किए। अपने को समाज का जागरूक प्रहरी कहने वाले इन बौद्धिक कलाकारों ने यहीं बात समाप्त नहीं की, वरन् एक कदम आगे बढ़कर व्यक्ति के अहं को ही एकमात्र महत्वपूर्ण वस्तु समझना प्रारम्भ कर दिया और उसे बढ़ावा देने लगे। आत्मपरकता की चरम भावना आगे बढ़कर एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाती है जहाँ व्यक्ति को अपने अहं के अतिरिक्त कुछ और सुझाई नहीं देता और वह पूरे समाज को तहस-नहस कर देने को ही 'विद्रोह' समझने लगता है।

बस विचारधारा को, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, फ्रॉयड, ऐडलर और युंग ने सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। फ्रॉयड के अनुसार मनुष्य में असंख्य इच्छाएँ एवं कामनाएँ होती हैं, जो इन या उन कारणों से स्वभावतः पूर्ण नहीं हो पातीं और उसमें अपूर्णता का जन्म होता है।

वह अतृप्त मन से इन अपूर्ण इच्छाओं को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है। ये अतृप्त इच्छाएँ मनुष्य के अवचेतन मन में जाकर एकत्रित होती रहती हैं। समय पाकर ये दमित-शमित भावनाएँ फूटती हैं, जो भावी जीवन की दिशा ही नहीं निर्धारित करतीं, वरन् मनुष्य उनसे जीवन में विचित्र व्यवहार करने लगता है, जिनका कारण वह चाहकर भी समझ नहीं पाता। फ्रॉयड के अनुसार मनुष्य की प्रत्येक प्रक्रिया के मूल में उनकी वासनात्मक भावना ही रहती है। अतृप्त आकांक्षाओं और अपूर्ण वासना को मनुष्य सामाजिक भावना के भय से लज्जावश प्रकट नहीं करता क्योंकि इससे उसे अपना सम्मान छिन जाने की आशंका रहती है। फलत: कठोर सामाजिक बन्धनों के कारण उनका उदात्तीकरण हो जाता है। बचपन में वासना की भावना मातृरति (Oedipus Complex) के रूप में प्रकट होती है अर्थात् लड़का अपनी माँ से प्रेम और पिता से घृणा करता है। लड़कियाँ इसके विपरीत आचरण करती हैं (Electra Complex)। इसके विपरीत ऐडलर ने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य हीन-ग्रंथियों का शिकार होता है, जिन पर विजय पाने के लिए और दूसरों पर अपनी विशेषताओं का प्रभुत्व जमाने के लिए वह भाँति-भाँति प्रकार के कार्य करता है। इसमें अच्छे-बुरे का वह विवेक खो देता है और किसी-न-किसी प्रकार दूसरों पर अपना रोब डालने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐडलर की धारणा है कि खिलाड़ी, अभिनेता, कलाकार तथा नेता आदि सभी अपने-अपने क्षेत्रों में इसी भावना का शिकार होकर आगे बढ़ते हैं। युंग ने मानव व्यक्तित्व के दो विभाजन किए—अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति और बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति। उसके अनुसार अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अपने में ही सीमित रहता है, दूसरों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करता और साहित्य में इसीलिए जब वह आता है, तो कुछ ही पात्रों से अपना काम चला लेता है, क्योंकि व्यापक परिधि समेट सकना उसके लिए संभव नहीं होता। इसके विपरीत बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति सामाजिक

होता है और उसकी कार्य-परिधि का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। वह अधिक-से-अधिक व्यक्तियों से अपना सम्पर्क बढ़ाकर अपने परिचय का दायरा विराट करने के प्रति आग्रहशील रहता है। इस प्रकार का व्यक्ति जब साहित्य में आता है, तो व्यापक जीवन-परिधि और अधिक पात्रों को समेटकर विराटता का बोध स्थापित करना चाहता है। इन तीनों विद्वानों के अतिरिक्त ज्याँ-पाल सार्त्र, कामू तथा काफ़्का आदि ने भी इस धारा को अत्यधिक प्रभावित किया। फलस्वरूप हिन्दी में भी आत्म-परक विश्लेषण की धारा का सूत्रपात हुआ।

ऊपर मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि इस धारा की प्रमुख विशेताएँ क्या हैं। इस धारा के प्रचलन से कहानी साहित्य स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ी और कहानी का क्षेत्र मनुष्य जीवन अथवा उसका कर्म-क्षेत्र न होकर अन्तर्जगत और मानस हो गया। यदि फ्रॉयड के ही ढंग से सोचें, तो कोई भी मनुष्य स्वस्थ नहीं है। उसके अवचेतन मन में हीनता की ग्रंथियाँ, कुरुपताएँ, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या और वासना भरी हुई है. जिसे झुठलाकर मनुष्य ऊपर से शालीन और गम्भीर बने रहने का प्रत्यन करता है। जब कहानीकारों ने इस अवचेतन मन के रहस्य की गुत्थियों को सुलझाने को ही अपना उद्देश्य बना लिया, तो स्वाभाविक रूप से विघटनकारी शक्तियों को प्रश्रय मिला और ध्वंसोन्मुख पात्रों का निर्माण हुआ। इससे साहित्य का वास्तविक अर्थ तो समाप्त हो गया, उसके स्थान पर कलाकार की वैयक्तिक कुण्ठा, वर्जना एवं निराशा तथा अतृप्त वासना सामने आने लगी और साहित्य की एक प्रकार से छीछालेदर की जाने लगी। कलाकार एक महती उद्देश्य से प्रेरित होता है और उसमें सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना के साथ आस्था, संकल्प, मानव-मूल्यों को समझने की क्षमता और एक प्रगतिशील दृष्टिकोण का होना आवश्यक होता है। बिना इसके वह भटकता रहता है और किसी संदेश का वाहक होने या किसी जीवन-सत्य एवं यथार्थ का उद्घाटन करने में असमर्थ रहता है। आत्म-परक विश्लेषण

करने की धारा के लेखकों ने यहीं भूल की और कोई स्थायी महत्व प्राप्त करने में इसीलिए वे असमर्थ रहे। अन्तस् का उद्घाटन करना अथवा अवचेतन मन के रहस्य की गुत्थियों को सुलझाने की प्रवृत्ति एक अंग हो सकती है, अपने आप में पूर्ण नहीं। इसीलिए उनका साहित्य एकांगी ही बना रहा है। आत्म-परक विश्लेषण की धारा ने शिल्प-संबंधी नए-नए प्रयोग किए, यह तो स्वीकारना ही होगा। कहा जा सकता है कि इस धारा के पलायनवादी लेखकों ने कहानी की दृष्टि जीवन से हटाकर उसे कलावादी बना दिया। जीवन से असम्पृक्त होकर उसे निर्जीव बनते भी देर नहीं लगी, यह भी सत्य है। इसके साथ-ही सांकेतिकता, प्रतीकों के प्रयोग एवं बौद्धिकता के आग्रह से कहानी जटिल से जटिलतर होती गई और सामान्य पाठकों के लिए दुरुह होने के कारण अपने आप में सीमित होती गई।

यहाँ यह बात अपने आप में बड़ी मनोरंजक लगती है कि हालाँकि 'नई' कहानी ने इन बातों को अस्वीकारा है और इस परम्परा के प्रति 'नई' कहानी को एक विद्रोह के रूप में मान्यता दिलाने का प्रयत्न किया है, पर जब मैं निर्मल वर्मा की 'दहलीज़', 'कुत्ते की मौत', 'पराए शहर में', नरेश मेहता की 'चाँदनी', 'अनबीता व्यतीत' तथा 'निशाऽऽजी', मोहन राकेश की 'कई एक अकेले', 'पाँचवे माले का फ्लैट' तथा 'फौलाद का आकाश', राजेन्द्र यादव की 'शहर के बीच एक वृक्ष', 'किनारे से किनारे तक', तथा 'पुराने नाले पर नया फ्लैट,' कमलेश्वर की 'तलाश', 'पीला गुलाब', 'खोयी हुई दिशाएँ', अमरकान्त की 'खलनायक', 'श्रीकान्त वर्मा की 'टरसो', सुरेश सिनहा की 'पानी की मीनारें', 'नीली-धुंध के आरपार' तथा 'कई कुहरे', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', 'त्रास', ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए', 'पिता' तथा 'सीमाएँ' आदि कहानियाँ पढ़ता हूँ, तो इस दावे पर हँसी ही आती है। ये कहानियाँ न तो कथ्य में और न कथन में इस आत्म-परक विश्लेषण की धारा से भिन्न हैं, और मज़े की बात यह है कि इन्हें प्रगतिशील दृष्टिकोण,

सामाजिक दायित्व निर्वाह की भावना और परम्परा से विद्रोह के नाम पर एक-दो की संख्या में नहीं सैकड़ों की संख्या में लिखा जा रहा है और नए-पुराने सभी लेखक इस दिशा में प्रवृत्त हैं।

यद्यपि इस समय मनोविज्ञान के आधार पर कहानी लिखने की प्रवृति प्रमुखतः पाई जाती है, तो भी प्रेमचन्द-परम्परा के कुछ कहानीकार अपनी प्रौढ़ रचनाओं से कहानी-साहित्य को समृद्ध करते रहे। ऐसे कहानीकारों में वाचस्पति पाठक का नाम अग्रगण्य है। वे हिन्दी के उन मूर्द्धन्य कहानीकारों में हैं, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी कहानी का स्वरूप रूपायित किया है। उनके दो कहानी संग्रहों में 'कागज़ की टोपी', 'यात्रा', 'सूरदास' आदि हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। पाठकजी मुख्यतया प्रेमचन्दकालीन कहानीकार हैं, पर उनमें सूक्ष्मता, मनोवैज्ञानिक चित्रण और मानव मन पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का कुशल अंकन है। यदि उनमें सामाजिक संचेतना और यथार्थ की गहरी पकड़ प्राप्त होती है, तो व्यक्ति की मर्यादा और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की दिशा में प्रयत्नशीलता भी लक्षित होती है। वे वातावरण का निर्माण करने में अत्यन्त कुशल हैं और उनकी कहानियों में लिए गए पक्ष की विराटता झांकती है। सामयिक भावबोध, परिवेश की यथार्थता और अपनी संगत प्रतिबद्धता के कारण पाठक जी हिन्दी कहानी की ऐतिहासिक परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी हैं।

जैनेन्द्र कुमार आत्मपरक विश्लेषण की धारा के प्रवर्त्तकों में से हैं। वे एक दार्शनिक और विचारक कहानी-लेखक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने प्रायः मध्यम वर्ग की मनोवैज्ञानिक असंगतियाँ और कमज़ोरियाँ परखी हैं। वे व्यक्ति पर ज़ोर देकर उसके मन का विश्लेषण करते हैं। दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण उनकी कुछ कहानियों में दुरूहता और अस्पष्टता का आ जाना स्वाभाविक ही है। विषय-समाग्री अधिकतर वे अपने आसपास के जीवन से ही लेते हैं। फलतः उनकी कहानियों केकथानकों का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है। उनकी कहानियों में मनोरम खण्ड-दृश्य हैं,

जीवन-दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने के लिए दार्शनिकता का मुखौटा लगा लेते हैं। मजे की बात यह है कि वे न तो पूरे रूप में लेखक-कलाकार ही रह पाते हैं और न दार्शनिक ही। उन्होंने सेक्स के सम्बन्ध में अपनी कहानियों में स्वतन्त्रता लेनी चाही है और जाने-अनजाने सामाजिक प्रतिबंधों को कृत्रिम स्वीकार कर उनकी निन्दा करते हुए सेक्स-सम्बन्धी स्वतन्त्रता की माँग की है। इन अस्वस्थ प्रवृत्तियों तथा मानव-जीवन के विकार पक्ष को छोड़कर उन्हें कुछ दृष्टिगत ही नहीं होता और प्रत्येक व्यक्ति सेक्स से आक्रान्त लगता है—यह अपने आपमें बड़ी मनोरंजक बात है।

जैनेन्द्र जी ने शिल्प-सम्बन्धी कई अभिनव प्रयोग अवश्य किए हैं और डायरी शैली, आत्म-कथात्मक शैली, चेतन-प्रवाह शैली आदि नवीतम शैलियों में कहानियाँ लिखकर हिन्दी कहानी साहित्य के कलात्मक पक्ष को समृद्ध करने का यथासंभव प्रयास किया है, यह स्वीकारना ही होगा। उनकी कहानियों में प्रतीकों की योजना बड़े ही कुशल ढंग से की गई है और जिस किसी बात को उन्होंने कहना चाहा है, उसके लिए सार्थक प्रतीकों का ही प्रयोग किया है—यह बात अन्यथा है कि उन बातों का महत्व व्यापक दृष्टि से क्या है। नाटकीयता के गुणों और चरमोत्कर्ष को अधिकाधिक रोचक बनाने की सायास प्रयत्न-शीलता जैनेन्द्र जी में लक्षित होती है। इसके साथ ही प्रवाह को तमाम बौद्धिकता एवं जटिलता के बावजूद बनाए रखने में वे अपार रूप से सफल रहे हैं और यह प्रौढ़ शिल्प के कारण ही सम्भव हो सका है। जैनेन्द्र कुमार कदाचित् पहले हिन्दी कहानीकार हैं, जिन्होंने कहानियों में उपसंहार देने की प्रवृत्ति को ही समाप्त नहीं किया, वरन् भूमिका देने की प्रवृत्ति को भी समाप्त किया। इससे कहानी का कलेवर कम हुआ और उसमें संश्लिष्ट गुणों की अभिवृद्धि हुई। अब कहानी वहाँ से प्रारम्भ होने लगी 'जहाँ वह समाप्त होती है'—यह शिल्प की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण सफलता थी।

अज्ञेय की कहानियाँ प्रभाववादी होती हैं और वे किसी-न-किसी सामयिक सत्य की व्यंजना करते हैं। उन्होंने किसी प्रकार के दर्शन का आश्रय ग्रहण नहीं किया और न जीवन को वर्गीय खण्डों में बाँट-कर देखा है। वे अपनी सामग्री अधिकतर दैनिक जीवन से लेते हैं। उनकी कहानियों में प्रतीकों, स्वप्नों, स्मृतियों और वातावरण के कुछ प्रयोग के साथ-साथ कोमल मानवीय प्रवृत्तियों का भी सुन्दर संवेदनीय चित्रण रहता है। 'अज्ञेय' ने अपनी कहानियों में मध्य वर्ग के जीवन की विषमताओं का वर्णन किया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उनके अपने व्यक्तित्व की छाप भी उनकी कहानियों की विशेषताएँ हैं। उनके कथोपकथन और भाषा में स्वाभाविकता रहती है। 'विपथगा', 'कोठरी की बात', 'परम्परा', 'जयदोल', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'मेजर चौधरी की वापसी' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'अज्ञेय' की कहानियों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग तो उन कहानियों का, जिनमें उन्होंने सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने और मानव-सत्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से 'जीवनी-शक्ति' कहानी बहुत उल्लेखनीय रचना है, जिसमें एक भिखारी और भिखारिणी का परस्पर प्रेम दिखाया गया है। वे अपना एक घर बना लेते हैं और एक नए मानव को जन्म देते हैं। दुकानदार और पुलिस वाले उनकी झोपड़ी बार-बार नष्ट कर देते हैं, पर वे उसे बार-बार बना लेते हैं। इस प्रकार जीवन संघर्ष में विजयी होने के लिए अपूर्व जिजीविषा भाव की अनिवार्यता को उन्होंने इतने कुशल ढंग से चित्रित किया है कि 'अज्ञेय' की सम्पूर्ण शैली से परिचित पाठक के लिए विस्मय ही होता है। इसी प्रकार उनकी शरणार्थी जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ भी उल्लेखनीय हैं, जिनमें विभाजन से उत्पन्न परिणामों, विघटित मानव-मूल्यों एवं युग-बोध का इतनी सूक्ष्मता से चित्रण हुआ है कि सारी कहानियाँ मन और मस्तिष्क को चीरकर रख देती हैं। खेद की बात यह है कि इस प्रकार की कहानियाँ 'अज्ञेय' ने अधिक नहीं लिखीं, पर जो लिखी हैं, वे नख-से-शिख तक चुस्त और दुरुस्त कहानियाँ हैं।

शरणार्थी जीवन से सम्बन्धित कहानियों की चर्चा करते समय मुझे सहसा मोहन राकेश की प्रसिद्ध घोषित की जाने वाली कहानी 'मलवे का मालिक' का स्मरण हो आया। वैसे स्वातन्त्र्योत्तर काल में नए सिरे से सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने की भावना से ओतप्रोत स्वयं घोषित मसीहा कहानीकारों का ध्यान विभाजन से उत्पन्न परिणामों एवं नृशंस हत्याओं एवं नंगी औरतों के शर्मनाक जुलूसों की ओर क्यों नहीं गया, इसका कारण मैं कभी नहीं समझ पाता। इस सन्दर्भ में जब मोहन राकेश 'एक नई क्राइसिस' की बात करते हैं तो बात समझ में आती है, पर जब उस 'नई क्राइसिस' को 'नई कहानी' में ग़ायब पाया जाता है, तो बात स्पष्ट होने बजाय उलझ जाती है। और जब डॉ० नामवरसिंह तथा डॉ० सुरेश सिनहा या डॉ० देवीशंकर अवस्थी नई कहानी की सत्ता घोषित करने के लिए सायास ढंग से परिश्रम करते दृष्टिगोचर होते हैं, तो मूल में घपलों को देखकर खेद ही होता है, आश्चर्य नहीं। जब मोहन राकेश की कहानी 'मलवे का मालिक' नई है, तो शरणार्थी जीवन पर लिखी गई 'अज्ञेय' की कहानियाँ कैसे नई नहीं है, जिनमें शिल्प की प्रौढ़ता है, स्वस्थ जीवन-दृष्टि है, नए यथार्थ का सशक्त उद्घाटन है और समष्टिगत आधुनिक संचेतना है। हाँ, उन्हीं के टक्कर की कहानी नरेश मेहता की 'वह मर्द थी' मिलती है, पर वह अपवाद स्वरूप है।

'अज्ञेय' की दूसरे ढंग की कहानियाँ पूर्णतया आत्म-परक हैं और वैयक्तिक संचेतना को लेकर लिखी गई हैं। इनमें वही प्रतीकों को देने तथा साँकेतिकता की प्रवृत्ति है, जिनसे इस धारा की कहानियाँ बहुत दुरुह एवं जटिल हो गई हैं। कुछ कहानियाँ तो बौद्धिकता के आग्रह से इतनी दबी हुई हैं कि 'नई' कविता के समान जब तक स्वयं लेखक उनका विश्लेषण न करे, साधारण पाठक उन्हें समझ ही नहीं सकता। शिल्प की दृष्टि से 'अज्ञेय' ने भी अनेक प्रयोग किए हैं और हिन्दी कहानी के कलापक्ष को पुष्ट और समर्थ बनाया है, इसमें कोई सन्देह

नहीं। उन्होंने उसे गम्भीर अर्थवत्ता प्रदान करने में निरंतर प्रयास किया है और हिन्दी कहानी की सूक्ष्मता को जीवन-यथार्थ से सम्बद्ध 'स्थूल' कहानियों के क्षेत्र में भी ले आए और प्रेमचन्द की 'कफ़न', 'पूस की रात' आदि कहानियों की परम्परा का नए रूप में विकास किया, यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी आवश्यक है।

इलाचन्द्र जोशी ने मानव-मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने और व्यक्ति के अहं को स्पष्ट करने का प्रयत्न अपनी कहानियों में किया है। यद्यपि हाल में उन्होंने फ्रॉयड आदि के सिद्धान्तों की अत्यन्त कटु अलोचना की है, तो भी अपनी पिछली कहानियों में वे फ्रॉयड, ऐडलर और युंग के सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित हुए हैं। उन्होंने बड़ा सीमित दायरा लिया है और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जीवन से पलायनवाद करने में ही उन्होंने वास्तविक नियति समझी है। उनकी कहानियों में जीवन का यथार्थ नहीं, मानव-मन का सत्य मिलेगा। 'डायरी के नीरस पृष्ठ' में उनकी सारी रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं।

यहाँ जिन लेखकों की चर्चा की गई है, उनके अतिरिक्त दोनों ही धाराओं में मिलाकर उपेन्द्रनाथ अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', रायकृष्णदास, वाचस्पति पाठक, अमृतराय, ओंकार शरद् आदि अनेकानेक कहानीकार हैं, जिन्होंने एक-से-एक अच्छी कहानियाँ लिखकर हिन्दी कहानी साहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में ऊपर कुछ प्रमुख कहानीकारों की विचारधारा और रचनाओं तथा शिल्प का परिचय देकर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में जो भी परिवर्तन आए हैं, वे समय के अनुसार स्वभाविक रूप में आए हैं और यह एक प्रकार से कहानी कला का विकास ही माना जायगा, न कि परम्परा के प्रति विद्रोह। प्रेमचन्द तथा यशपाल ने एक ओर, और जैनेन्द्र कुमार तथा 'अज्ञेय' ने दूसरी ओर जिस परम्परा का निर्माण किया था, आज की कहानी वस्तुतः उसका आगे एक विकास ही है, इसे ऊपर विभिन्न लेखकों मे सन्दर्भ के स्पष्ट ही किया जा चुका है।

३

परिभाषा : स्वरूप एवं विस्तार

इस शीर्षक से चर्चा प्रारम्भ करने के पूर्व मैं स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी को 'नई' की संज्ञा दिए जाने के सम्बन्ध में दो बातें स्पष्ट करना चाहता हूँ। इस सम्बन्ध में डॉ० नामवर सिंह, डॉ देवीशंकर अवस्थी, डॉ० सुरेश सिनहा तथा श्री मोहन राकेश के अनेक लेख मैंने पढ़े हैं और 'नई' की संज्ञा पर विभिन्न दृष्टिकोणों को जानने की चेष्टा की है। कुछ दिन पूर्व हिन्दी में जिस प्रकार 'नई कविता' की चर्चा होती थी, उसी प्रकार सम्प्रति 'नई कहानी' की चर्चा छिड़ी हुई है। निस्सन्देह इन दोनों प्रकार की चर्चाओं का लक्ष्य कलाकारों और आलोचकों द्वारा अनुभूत सत्य का परीक्षण करना, नवीन युग के भाव बोध के प्रति सजग होना और नई दिशाएँ खोजना था, और है। इस वाद-विवाद से कविता और कहानी के सम्बन्ध में बौद्धिक चिन्तन का सुअवसर प्राप्त हुआ और साहित्य की इन दोनों विधाओं की प्रकृति मुखरित हुई। कलाकार और आलोचक दोनों के एक साथ सोचने, समझने, विचारों का आदान-प्रदान और नवीन उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करने से आलोचना भी पुष्ट हुई है। यह एक शुभ लक्षण है, क्योंकि अब कलाकार और आलोचक एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत नहीं होते।

किन्तु 'नई कहानी' आदि शब्दों का प्रयोग करते समय सतर्कता और सावधानी की आवश्यकता है। 'नया' या 'नई' ये शब्द अपने में बड़े अच्छे हैं। वे जीवन्त शक्ति, जिजीविषा, प्रगति, परिवर्तनशीलता, आदि के प्रतीक हैं। अमरीका में भी नवीनतम आलोचना को 'नई आलोचना'

और आलोचकों को 'नए आलोचक' के नाम से अभिहित किया जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश हिन्दी में ये शब्द बदनाम हो गए हैं। जहाँ तक मुझे स्मरण है हिन्दी की प्रगतिवादी विचार-धारा के समर्थकों ने सर्वप्रथम साहित्य के साथ 'नया' शब्द जोड़ा था। तत्पश्चात् 'प्रयोगवादी' कविता का नामकरण 'नई कविता' हुआ। दोनों सन्दर्भों में 'नया' और 'नई' शब्दों से साम्प्रदायिकता और दलबन्दी की बू आती है। 'नया साहित्य' राजनीति से प्रभावित साहित्य विशेष का द्योतक बनकर रह गया। 'नई कविता' से उस कविता का तात्पर्य समझा जाने लगा 'जिसमें कवि का टूटा व्यक्तित्व', कुंठा, 'मानसिक घुटन', 'दु:स्वप्न', 'जीवन की सड़ाध' आदि उन जटिलताओं की अभिव्यक्ति होती थी, जिनसे कवि का मानवीय अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया था।उसकी अतिशय बौद्धिकता और संप्रेषणीयता के अभाव ने उसे उपहासास्पद बनाने में सहायता की। ऐसा नहीं होना चाहिए था, किन्तु ऐसा हुआ, यह सर्वमान्य तथ्य है। अत: कहानी के साथ 'नई' शब्द का प्रयोग सोच-समझकर करना चाहिए, नहीं तो उस पर भी दलबन्दी की छाप लग जाएगी। कहानी के भविष्य के लिए यह घातक होगा। शायद कुछ लोग ज़बर्दस्ती कहानी को दलबन्दी की कीचड़ में खींच लाना चाहते हैं और वे जानबूझ कर उसके साथ 'नई' शब्द जोड़ते हैं।

और जब कुछ लोग 'नई कविता' और 'नई कहानी' को समकक्षता की तुला पर तोलने लगते हैं, तो 'मुग्ध' हुए बिना नहीं रहा जाता। संभवत: वे उस समय या तो दोनों की मूल प्रकृति को दृष्टिपथ में नहीं रखते और 'नेतृत्व' का भार सम्हालते समय जो नहीं कहना चाहिए कह जाते हैं, या वे 'नई कविता' के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित हैं। इस सम्वन्ध में यह बात स्मरण रखने की है कि यूरोप और भारतवर्ष में जब से शिक्षा-प्रसार, पढ़ने-लिखने की आदत पड़ने, मुद्रण-कला का प्रचार होने और आर्थिक परिवर्तन होने के कारण मध्य वर्ग का जन्म हुआ और मध्य वर्ग ने जब से जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं, आस्थाओं और मान्यताओं, विश्वासों के प्रति विद्रोह प्रकट किया, तब से कथा-साहित्य

उसका 'महाकाव्य' बना हुआ है। जब तक मध्य वर्ग जीवित है तब तक उपन्यास और कहानी की श्रेष्ठता और उसके विकास में कोई कमी नहीं आने की। प्रत्युत उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने की पूर्ण आशा है और वृद्धि निश्चित रूप से हो रही है। जो लोग आधुनिक कहानी की असमर्थता की बातें कहते हैं. उसे युग मानस की संवेदनाओं को वहन करने में अक्षम समझते हैं, उसमें शैथिल्य और दौर्बल्य देखते हैं, वे या तो कहानी पढ़ते नहीं, या किसी विशेष अभिप्राय से ऐसा कहते हैं। क्योंकि युग-मानस से अलग होते ही उपन्यास और कहानी अन्तिम साँस लेने लगेगी—जो बात अभी बहुत दिनों तक सोची भी नहीं जा सकती। समाज-सापेक्षता तो उपन्यास और कहानी का प्राण है। कविता के सम्बन्ध में ज्यों-की-त्यों यह बात नहीं कही जा सकती। जीवन कविता के पीछे रहता है, लेकिन कहानी के आगे रहता है। जिस दिन कहानी जीवन को आगे कर नहीं चलेगी, उस दिन वह मर जाएगी। जीवन के इतने अधिक नैकट्य के कारण ही उसकी शिल्पविधि में विविधता आती है; वह नाटक और कविता की भाँति नियमों और सिद्धान्तों के जटिल बन्धनों में अपने को बाँध नहीं पाती, बाँध नहीं सकती। कविता की भाँति कहानी आत्मपरक भी नहीं होती; इसलिए 'नई कविता' और आधुनिक कहानी को समकक्ष रखने की चेष्टा अवैज्ञानिक है। इधर इस सम्बन्ध में जितनी चर्चाएँ पढ़ी-सुनीं उनमें यह देखने को मिला कि उनकी भाषा शैली और शब्दावली लगभग वही है, जो 'नई कविता' पर विचार करते समय व्यवहार में लाई जाती थी। मेरी समझ में यह ठीक नहीं है। कहानी कविता के वज़न की चीज नहीं—हो भी नहीं सकती।

आज की कहानी के सन्दर्भ में, उसकी नवीन कलात्मक सर्जना और सत्यान्वेषण के सन्दर्भ में, हिन्दी कहानी-परम्परा को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि हिन्दी कहानी का जन्म राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनों के क्रोड़ में हुआ और उस समय

के कहानी-लेखकों ने उस काल के सम्पूर्ण स्थूलत्व के साथ कहानी-कला का ढाँचा प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'सुदर्शन', कौशिक और चतुरसेन शास्त्री आदि कहानी-लेखकों ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण किया था। प्रेमचन्द ने आदर्शवादी-यथार्थवादी परम्परा को जन्म दिया, तो 'प्रसाद' ने आदर्शवादी और कल्पना-प्रधान परम्परा को। विभिन्न कहानी-लेखकों की शैलियों में वैविध्य अवश्य था, किन्तु सबने प्रकारान्तर से पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इन कहानी-लेखकों की रचनाओं में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती है। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' जैसे कहानी-लेखकों की रचनाओं में यही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता अधिक प्रमुख हो जाती है। उन्होंने मध्य-वर्गीय जीवन के रहस्यपूर्ण कोनों में झांका और रहस्यपूर्ण कोनों में झाँकने के फलस्वरूप उनकी शैली में एक नया मोड़ आया। स्थूल सामाजिक यथार्थ प्रगतिवादी कहानी-लेखकों में अधिक उभरा। उन्होंने भी मध्य और निम्न वर्गों की वर्गीय परम्पराओं, रीति-नीति आदि ग्रहण कर अपने अनुकूल प्रसंगों की उद्‌भावना की। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी को छोड़कर अन्य सभी कहानीकारों ने सामाजिक और राष्ट्रीय विषमताओं को अधिक परखा। जैनेन्द्र की जीवन दृष्टि अधिक दार्शनिक थी। इस दिशा में 'अज्ञेय' ने प्रतीकात्मक और वातावरण-प्रधान शैली को भी जन्म दिया और वैयक्तिक स्पर्शों द्वारा हिन्दी कहानी को अधिक कोमल और मानव-संवेदनापूर्ण बनाया। मूलतः द्वितीय महायुद्ध के बाद की कहानी में कहानी की प्रकृति और परम्परा सुरक्षित रहते हुए भी, उसमें सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना व्यक्त होते हुए भी, वह अधिक सूक्ष्म हो गई है।

वास्तव में प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के कहानी लेखक रोमांसपूर्ण कहानियाँ लिखने लग गए थे। किन्तु धीरे-धीरे हिन्दी के कहानी-लेखकों ने प्रेमचन्द की 'कफ़न' कहानी का मार्ग पकड़कर यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक कहानियों का सर्जन किया। उन्होंने निस्संकोच वर्तमान

युग और जीवन से कथानक चुने, मध्यम वर्ग के जीर्ण जीवन का चित्रण किया, व्यक्ति के मन का विश्लेषण किया, स्त्री-पुरुष के प्रेम का चित्रण किया और आधुनिक जीवन की मानसिक और भौतिक विषमताओं से अपनी कहानियों को पूर्ण किया। पिछले लगभग बीस वर्ष की जिन महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लख आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में हुआ है उन्हीं घटनाओं से सम्बद्ध युग-सत्य को कहानी-लेखक वाणी दे रहे हैं। आज की कहानी ने मानव मन को पहले की अपेक्षा अधिक गहराई के साथ नापकर उसे शिल्पगत नवीन रूप प्रदान किया है। इस प्रकार आज की कहानी निस्सन्देह एक सीमा तक आगे बढ़ी है। उसके विषय चयन और टेकनीक दोनों में ताजगी है। पर प्रत्येक काल में होने वाले स्वाभाविक परिवर्तनों एवं विकास का यह अगला चरण है, उसे कोई विशेष नाम देने की आवश्यकता मेरे समझ में नहीं आती। अतः नई पीढ़ी के कहानीकारों की कहानियों को लेकर नए-पुराने के विवाद में पड़ना व्यर्थ है। प्रत्येक युग में कलात्मक अभिव्यक्ति नवीन उपादान और साधन ग्रहण करती है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र जब कहानी—साहित्य की रचना कर रहे थे तो उन्होंने भी युगानुकूल उपादान और साधन ग्रहण किए थे। अतः आज की नई पीढ़ी से कहानी-लेखकों की रचनाओं में भी विषयगत और शैलीगत नाविन्य मिलता है, जो किसी को कोई विवाद नहीं उठाना चाहिए।

अभी-अभी मैंने ऊपर कहा है कि जीवन कविता के पीछे रहता है, किन्तु उपन्यास और कहानी के आगे रहता है। इसीलिए यह कहना कि कहानी आधुनिक भाव-बोध का भार वहन करने में असमर्थ है, वैज्ञानिक नहीं है। आधुनिक जीवन के विभिन्न पार्श्व आज की हिन्दी कहानियों में सरलतापूर्वक देखे जा सकते हैं। उनके पीछे देश और समाज के पिछले २५-३० वर्षों का इतिहास बोल रहा है, और बोल रहा है आधुनिक युग-बोध एवं भाव-बोध अपने अच्छे बुरे रंगों एवं विभिन्न आयामों के साथ। इतना ही नहीं उनमें आधुनिक मन को कुरेदने का

प्रयास दृष्टिगोचर होता है। ये कहानियाँ हमारे आधुनिक जीवन को झकझोर देने वाली कहानियाँ हैं। इन कहानियों में प्रेमचन्द यशपाल तथा जैनेन्द्र-'अज्ञेय' की कहानी परम्पराओं का सुन्दर समन्वयात्मक निर्वाह मिलता है। साथ ही विषय, शैली और विचारों की दृष्टि से उनमें ताजगी भी है। प्रत्येक दृष्टि से हम उनमें से कुछ को श्रेष्ठ कहानियाँ कह सकते हैं। १९५० से १९६५ तक के १५ वर्षों की स्वातंत्र्योत्तर निर्वाह कहानियों की उपलब्धियों को खोजना चाहें तो कठिनाई नहीं होगी—मोहन राकेश की 'मिस पाल', कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', राजेन्द्रयादव की 'टूटना', अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक', निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम', भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत', मार्कण्डेय की 'हंसा जाई अकेला', कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया', मन्नू भण्डारी की 'आकाश के आईने में', उषा प्रियंवदा की 'ज़िदगी और गुलाब के फूल', सुरेश सिनहा की 'एक अपरिचित दायरा', रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का आदमी', ज्ञानरंजन की 'फेन्स के इधर और उधर', तथा सुधा अरोड़ा की 'एक अविवाहित पृष्ठ'। इन महत्वपूर्ण कहानीकरों की गत पन्द्रह वर्षों की ये उपलब्धियाँ हैं। उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर काल की हिन्दी कहानी को नई दिशा ही नहीं दी, वरन् भाषा को नई अर्थवत्ता दी है। चरित्रों को अभिनव यथार्थ के नए परिपार्श्व दिए हैं एवं मानव-मूल्य तथा मर्यादा एवं समकालीन जीवन में सन्निहित आधुनिक संचेतना को अभिव्यक्त कर नवीन स्थितियों को गरिमा दी है। जीवन के परिवर्तित सन्दर्भ एवं परिप्रेक्ष्य और नवीन सत्य उनके माध्यम से हिन्दी पाठकों के सम्मुख आते हैं

वास्तव में कहानी कला अपने में स्वतन्त्र और पूर्ण कला है और वह जीवन के गम्भीरतम क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। इस कला में जीवन की अद्भुत पकड़ है। उसके द्वारा जीवन के जटिल से जटिल परत सरलतापूर्वक उघाड़े जाते

हैं। रचना-विधान की दृष्टि से निस्सन्देह उसकी अपनी सीमाएँ हैं और वह जीवन को उसकी समग्रता के साथ अपने में समेट लेने में भी अक्षम रहती हैं, तो भी जीवन के जिस बिन्दु पर कहानी की दृष्टि पड़ती है, वह बड़ी गहराई के साथ उसे माप लेती है। वह जीवन से अपने ढंग से जूझती है, किन्तु जूझती अवश्य है। हिन्दी का ही नहीं संसार का कहानी-साहित्य इसकी पुष्टि करता है। और, आज का जीवन तो इतना विशाल, बहुमुखी और दुरूह एवं जटिल हो गया है कि उसे उसकी समग्रता के साथ महाकाव्यकार की भाँति देखना असम्भव है। आज तो उसे एक साथ न देखकर विभिन्न पार्श्वों और कोणों से ही देखा जा सकता है। जीवन-गत सत्य को आंशिक रुप में क्रमश: अनुभूत कर उसके पूर्णत्व तक पहुँचा जा सकता है। लेखक यदि जीवन-गत सत्य को आंशिक रुप में ही प्राप्त कर ले तो उसे सफल कहा जाएगा। इस प्रकार की आँशिक अभिव्यक्ति के लिए कहानी उपयुक्त माध्यम है। कहानियों में व्यक्त जीवन-खण्डों को मिलाकर देखने से जीवन का सच्चा 'पैटर्न' दिखाई दे सकता है। आज का कहानी-लेखक अपनी कला की प्रकृति के अनुसार नव-युगीन संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए, नवीन समस्याओं की चुनौती स्वीकारते हुए नित नवीन से जूझ रहा है और जो उसके लिए नितान्त स्वाभाविक है। वह कला की उत्कृष्टता की ओर यदि सचेत है, तो जीवन-सत्य को गहराई से देखने, जीवन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के प्रति भी सतत प्रयत्नशील है। त्रुटियों के रहते हुए भी उसमें शक्ति है— उपर उल्लिखित कहानियाँ या आज लिखी जाने वाली दूसरी कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।

मात्र लिखने की लत रखने वाले कहानी-लेखकों को छोड़कर अथवा संसार से वीतराग हुए लेखकों को छोड़कर अथवा विगत शताब्दी के 'कलार्थ कला' वाले सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले कलाकारों को छोड़कर, अन्य कोई जागरूक और सचेत लेखक जीवन-संग्राम से अलग

नहीं रह सकता। उसे अपने और अपने चारों ओर के समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। लेखक एक व्यक्ति है। व्यक्ति होने के नाते वह अकेला नहीं है। उसका घनिष्ठ सम्बन्ध समाज से, और अन्ततोगत्वा राष्ट्र से, रहता है। अपने समाज और राष्ट्र में जो कुछ घटित होता है, उसके प्रति कहानी-लेखक या कोई भी कलाकार उदासीन नहीं रह सकता। हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा कहानी-लेखक है जो अपने को भारतीय कहने और अपनी कला में 'भारतीयपन' बरतने में संकोच का अनुभव करता हो (उन एक या दो कहानीकारों को अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए, जो अपनी प्रेरणा के स्रोत विदेशों में खोजते हैं और चेक अथवा अमरीकन सभ्यता एवं संस्कृति को प्रकाश में लाने का 'दायित्व' बड़े ईमानदारी से निबाह रहे हैं!)—विशेष रूप से आज जब स्वतन्त्र भारतीय जीवन की नींव सुदृढ़ बनाना प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्तव्य है। यह ठीक है, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो देश की नवार्जित स्वतंत्रता और साहित्य-रचना का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं मानते। उनकी धारणा है कि लेखक तो बस लिखता है। समाज और राष्ट्र में क्या होता है, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। भारत में ही नहीं, यूरोप में भी इस प्रकार की विचारधारा का अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनके अतीत और वर्तमान में अन्तर है या जिनके विचारों में सन्तुलन नहीं है या जो मानसिक उलझन में पड़े इधर-उधर भटक रहे हैं। खेद का विषय है कि आज के कहानी-साहित्य के क्षेत्र में कई तरुण किन्तु प्रतिभाशाली लेखक महत्वाकांक्षा की वेदी पर अपनी कला की बलि चढ़ा रहे हैं।

निस्सन्देह वे भूल जाते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में उनका क्या और किस प्रकार का सक्रिय भाग हो सकता है। साहित्य और साहित्यकार का आज से नहीं, मानव-इतिहास के आदिम काल से, मानव सभ्यता के विभिन्न विकास-कालों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। लय, गति, यति, कल्पना आदि का आश्रय ग्रहण कर साहित्य और कला

मानव - मन को प्रभावित एवं अभिभूत करती रही है। विषयगत और शैलीगत परिवर्तनों के बावजूद साहित्य और कला ने अभी तक अपना यह मौलिक रूप विस्मृत नहीं किया। आधुनिक वैज्ञानिक और टेकनोलॉजिकाल प्रगति के युग में भी उसमें कोई प्रकृत्या परिवर्तन होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। लेखक या कलाकार का युग-बोध, भाव-बोध, संवेदनशीलता उसके चेतन जीवन और अवचेतन मन को संचालित करती रहती है। तदनुकूल उसकी शब्दावली, भाषा, शैली आदि में परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर के रचना- विधान में यह बड़ी अद्भुत बात दृष्टिगोचर होती है कि एक व्यक्ति की भाव-सृष्टि दूसरे व्यक्ति का अनुभूत विषय बन जाती है। लेखक की वाणी प्रेरणा-जन्य होती है। प्रेरणा-जन्य होने के कारण लेखक या कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा का अन्तिम सम्बन्ध जीवन से स्थापित हो ही जाता है। वैसे यूरोप और भारत में ऐसे विचारक भी रहे हैं जिन्होंने केवल अभिव्यंजनागत विधान को ही महत्व दिया, किन्तु संसार का साहित्य उनके मत की सत्यता प्रमाणित नहीं करता। प्रेम, भय, घृणा आदि विश्व-सहित्य को उद्वेलित करते रहे हैं; साहित्य में मनुष्य का 'रावणत्व' और 'रामत्व' दोनों अलग-अलग रूपों में या संघर्ष के रूप में चित्रित होते रहे हैं। मन के इस संघर्ष के अतिरिक्त आज विज्ञान और औद्योगीकरण - जन्य विषमताओं से भी उसका संघर्ष है। इतना ही नहीं, वह विज्ञान के नवीनतम अविष्कारों के प्रकाश में अपने जीवन और अपने तन को मापने का अभूतपूर्व प्रयास कर रहा है। इस सबका प्रभाव उसके साहित्य, उसकी कला, उसकी शैली आदि पर पड़ रहा है। साथ ही, वह नवीन मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि विभिन्न समस्याओं से जूझ रहा है। आधुनिकता का दावा करने वाला कोई भी चेतन लेखक या कलाकार इन बातों से विमुख नहीं रह सकता। विमुख रहना उसके लिए आत्महत्या के बराबर होगा। कथाकार को तो इस ओर और भी सचेष्ट होना है। मानव-

सभ्यता की वर्तमान क्राइसिस के बीच उसे सिर ऊँचा रखना है, यदि वे अपने को जागरूक और 'जीवित' लेखक या कलाकार कहलाना चाहते हैं। हो सकता है, आधुनिक मशीनों की घड़घड़ाहट के बीच जागरूक लेखक या कलाकार को परम्परानुमोदित कला-माध्यम और भाषा-शैली से भिन्न माध्यम और भाषा-शैली ग्रहण करनी पड़े, जो संभवत: सौन्दर्य की कसौटी पर खरी न उतरे, किन्तु उसके पीछे उसकी जीजिविषा होगी, उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा होगी। यद्यपि कहना ही यथेष्ट नहीं है क्योंकि 'कैसे और क्या कहा गया है', यह भी देखने की बात है, तो भी वह कुछ कहेगा। वह चौमुखी यथार्थता को हृदय-रस में पगा कर कल्पना के सहारे व्यक्त करेगा। इसके अतिरिक्त लेखक या कलाकार को यह बात भी ध्यान में रखने की है कि आज दुनिया में चारों ओर नीचे के लोग ऊपर उठ रहे हैं। उनकी बोलियाँ, शब्दावली, रूपक, कहावत-मुहावरे, रहन-सहन का ढंग आगे आ रहा है। ये लोग वे हैं जो वैज्ञानिक वृत्ति रखे बिना ही विज्ञान का प्रसाद प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं। इससे स्थिति जटिल हो गई है। इसलिए, क्या कहा जाता है, कैसे कहा जाता है, इसका महत्व किसी प्रकार भी कम्म नहीं माना जा सकता। मानव-जीवन के वर्तमान संक्रमण-काल में जब वैज्ञानिक प्रगति और नीचे से ऊपर उठे हुए लोग परम्परागत मानव-जीवन को चुनौती दे रहे हैं, लेखक या कलाकार का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त आज के विश्व में दरार पड़ गई है। मृत्यु के भयावह बादल मँडराते रहते हैं। घृणा, हिंसा और प्रतिशोध की भावनाएं प्रवल हो रही हैं। तृतीत महायुद्ध की सम्भावना दृष्टिगोचर होती जा रही है। प्रत्येक देश की अपनी-अपनी असंख्य दुरूह समस्याएँ भी हैं। ऐसे संत्रस्त एवं उथल-पुथल वाले विश्व में सामान्य जन सुख-शान्ति चाहता है। कैसी विडम्बना है! उस पर भी ऊपर के लोग विभिन्न प्रचार-साधनों द्वारा उसे विभ्रान्त करने एवं दिशाहारा की भाँति भटकते रहने के लिए बाध्यता उत्पन्न करने की और निरन्तर

प्रयत्नशील रहते हैं। फलतः वह दिग्भ्रमित है। स्वयं अपने देश में 'रामराज्य' का स्वप्न देखने वाले हताश हैं और देश की उत्तरी सीमा, अलंघ्य हिमालय, विदेशी आततायियों द्वारा आक्रांत है। विदेशी आक्रमण से न केवल हमारी नवार्जित स्वतन्त्रता, वरन् हमारी दीर्घकालीन जीवन-पद्धति भी खतरे में पड़ गई है। हमारे सामाजिक जीवन में एक ओर प्रगति की आड़ में यूरोप और अमरीका का भद्दा अनुकरण है, तो दूसरी ओर आर्थिक विषमता का घोर सन्ताप। अँगरेज़ी साम्राज्य-शाही का अन्त करन लेने के बाद हम भारतवासी आत्म-मंथन और आत्म-विशलेषण द्वारा अपना जीवन-क्रम स्वयं निर्धारित करने चले थे। किन्तु जीवन की वर्तमान देशी-विदेशी परिस्थिति में क्या वह संभव है? हम सब प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक अभावों से मुक्त होना चाहते हैं, व्यक्ति को पूर्ण बनाना चाहते हैं, अन्तर और वाह्य में सन्तुलन स्थापित करना चाहते हैं और कोई भी व्यक्ति जो लेखक या कलाकार होने का दावा करता है, उसे इन बातों से अधिक प्रिय और हो ही क्या सकता है। वह तो सभी प्रकार की मुक्तियों का दाता है। शर्त यही है कि उसमें समझ और अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। उसमें 'ह्यूमैन एंजीनियरिंग' की प्रतिभा होनी चाहिए। तभी वह स्वयं उद्बुद्ध होकर दूसरों को उद्बुद्ध कर सकता है और पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा कर सकता है, अपने और अपने चारों के ओर भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक झाड़-झंखाड़ दूर कर वह एक ऐसे उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण का सृष्टि कर सकता है जिसमें मनुष्य मनुष्य के रूप में जीवित रह सके। अस्तु, साहित्यकार होने के नाते हिन्दी के कहानीकारों का मुख्य लक्ष्य मानव की, मानवात्मा की रक्षा करते हुए अपने देश की सभी प्रकार की विकृतियाँ दूरकर नवार्जित स्वतन्त्रता की रक्षा करना होना चाहिए।

आज के कहानकारों ने समय रहते ही अपना महती उत्तरदायित्व समझा है और बड़ी सूझ-बूझ के साथ छोटे-छोटे जीवन-खण्डों को अनुवीक्षण यंत्र से देखना प्रारम्भ किया है और स्थानीय आचार-

विचार, रीति-नीति, भाषा, विशिष्ट शब्दावली, जीवन की रंगीनी आदि का समावेश कर कलात्मक वैशिष्ट्य उत्पन्न किया है (दे: नरेश मेहता, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और अमरकान्त की कहानियाँ)। कुछ कहानियों में लोकगाथात्मकता प्रमुख होती हुई दृष्टिगोचर होती है (दे: फणीश्वरनाथ रेणु, शैलेश मटियानी या मार्कण्डेय की कहानियाँ)। वे 'ऐनेक्डोटल' हो जाती हैं। नारी कथाकारों ने भी आज के जीवन की परिवर्तनशीलता और नारी-सम्बन्धी मूल्यों को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है (दे: उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, शिवानी, शषिप्रभा शास्त्री, अनीता औलक, विनीता पल्लवी, सुधा अरोड़ा की कहानियाँ)। जीवन की आशा-निराशा, भग्न आकांक्षाएँ, विषमता, विषैलापन, कटुता आदि सब कुछ उनमें है। किन्तु इतने पर भी एक ओर तो उनके और परम्परा के बीच में विभाजन-रेखा खींचना दुस्तर कार्य है, तो दूसरी ओर उन्हें 'नई कविता' के समकक्ष भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि आज की कहानी में समाज-सापेक्षता है, संघर्ष है। वह वाह्याभिमुख है। वह हमें चुनौती देती है। 'नई कविता' में सामाजिक और राजनैतिक जीवन की विषमता के फलस्वरूप उत्पन्न घुटन है। अपवाद दोनों में हैं, किन्तु व्यापक रूप से कहानी अब भी कहानी है। कथानक का ह्रास तो संसार भर की कहानियों में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इसकी क्षतिपूर्ति पात्र के चरित्र, उसके मन को कुरेदने और उसके व्यक्तित्व को उभारने में हो जाती है (दे: सुरेश सिनहा, रवीन्द्र कालिया तथा ज्ञानरंजन की कहानियाँ)। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें सरलता-पूर्वक रेखाचित्र, निबंध, संस्मरण और रिपोर्ताज़, इनमें से किसी एक की कोटि में रखा जा सकता है। पश्चिम में कहानी-साहित्य के विकास पर दृष्टि रखते हुए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ उसकी जड़ एडीसन और स्टील के 'स्केचेज़' में मिलती है। पश्चिम में

भी कथानक को 'स्टोरी पौयज़न' कहा जाने लगा है। एक आलोचक ने लिखा है : The modern story-teller has not dispensed with incident or anecdote or plot and all their concomitants, but he has changed their nature. There is still adventure; but it is adventure of the mind...... Adventure for the moderns is an adventure through the jungle of human nature.' क्या आज की हिन्दी कहानी के सम्बन्ध में यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध नहीं होता ? वास्तव में आज की कहानी में वातावरण और सामाजिक परिप्रेक्ष्य की प्रधानता हो चली है। घटना और पात्रों की अवतारणा किसी वैचारिक विशेषता या 'मूड' या जीवन का कोई विशेष पक्ष उभारने की दृष्टि से अधिक होती है और उस समय उसमें निबंधगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

इन सब विषयगत और शैलीगत नवीनताओं के बावजूद आज की कहानी को पुरानी परम्परा से एकदम विच्छिन्न धारा मान लेना असंगत होगा। प्रथमतः, तो आज की कहानी अपनी जन्मजात परम्परा का भार वहन कर रही है, अपने ढंग से कर रही है, यह दूसरी बात है और जो स्वाभाविक भी है। द्वितीयतः, जीवन और वैचारिक एवं कलात्मक परम्पराओं को खण्ड-खण्ड रूप में देखना उन्हें ग्राम्य-भाव से देखना है। विश्व-व्यापी परिवर्तन का मूल और सर्वाधिक निकट कारण द्वितीय महायुद्ध की विनाशकारी लीला है। उस समय मनुष्य ने अपने को 'फ़ैंकेन्सटाइन' का आविष्कारक पाया, अपने को 'भस्मासुर' के रूप में पाया, जिसके फलस्वरूप उसकी अपने में ही आस्था हिल उठी। ऐसी परिस्थिति में धर्म, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में पुरानी मान्यताओं और भावभूमियों का ध्वस्त होना स्वाभाविक था। साथ ही नई मान्यताओं एवं आस्थाओं और भावभूमियों की निश्चित स्थापना के अभाव में तनाव, अराजकता तथा निरर्थकता का बोध होना भी स्वाभाविक है।

आज के जीवन की वास्तविकता की जटिलता को आत्मसात् करना सरल नहीं है। फलतः असन्तोष और विक्षोभ उत्पन्न होना भी आश्चर्य-जनक नहीं। किन्तु निराशा और अवसाद के क्षणों में सशक्त आस्थावान् स्वर परिलक्षित होता है, इस तथ्य को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विन्दु पर आधारित एवं विकसित साहित्योपलब्धि में मानवता झाँकती दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के राष्ट्रीय जीवन की विषमताएँ और अभिशाप तथा असंगतियाँ तो सर्वविदित ही हैं।

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियों से कहानी ने नया स्वर ग्रहण किया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, कहानी जीवन को आगे रखकर चलती है। उसके लिए नई-नई दिशाएँ खुली हैं। उसका एक निश्चित लक्ष्य है—स्वस्थ समाज में स्वस्थ व्यक्ति। उसमें कुण्ठा, घुटन, रोमांस आदि के प्रति आसक्ति विल्कुल नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता। इन बातों का साहित्य में बिल्कुल अस्तित्व न रहा हो या आगे नहीं रहेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य है तो कुंठाएँ और रोमांस भी रहेगा। किन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर लगता है कि आज का कहानीकार भूख और सेक्स के संघर्ष, मानव-जीवन को सुखी बनाने के मार्ग में बाधाओं को दूर करने, जीवन की विषम परिधियों को तोड़ने, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में झूठ और फ़रेब दूर करने आदि की दृष्टि से व्यंग्यास्त्र धारण किए हुए नए कवि की अपेक्षा साहस और पौरुष का अधिक परिचय दे रहा है। आज के कहानीकार ने बदलते मूल्य पहचानने में पूर्ण सक्षमता प्रकट की है। वह जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी बनाने में विश्वास तो रखता है, किन्तु उससे भी अधिक वह मनुष्य को मानसिक और आत्मिक दृष्टि से तुष्ट होते हुए देखना चाहता है। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों के फलस्वरूप टुकड़े-टुकड़े हुए जीवन-दर्पण को वह इस प्रकार जोड़ना चाहता है

कि मनुष्य उसमें अनेक प्रतिविम्बों के स्थान पर एक ही प्रतिवम्ब देख सके। आज का मध्यमवर्गीय कहानीकार कायर और डरपोक नहीं है; उसमें पलायन की प्रवृत्ति नहीं है। कविता में गतिरोध का प्रश्न उठाया जा सकता है। कहानी के क्षेत्र में उसका प्रश्न ही नहीं उठता। नई पीढ़ी के कहानीकारों ने जीवन की परिस्थितियों से मोर्चा लेने के लिए अत्यन्त त्वरित गति से पैंतरा बदला, पिटेपिटाए विषय छोड़े, पिटीपिटाई टेकनीक छोड़ी और गतिरोध को पास फटकने तक का अवसर प्रदान न किया। समूचे कहानी-साहित्य में, व्यक्तिगत रूप में कुछ कहानीकारों को छोड़कर, एक सूक्ष्म सामाजिक यथार्थ-बोध है, जो उसकी अपनी परम्परा का नवीनतम संस्करण है। आज की आधुनिकता से ओतप्रोत लेखक शंकालु होने के साथ यथार्थोन्मुख होगा ही। विवश होकर उसे जीवन-सत्य स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि जीवन और व्यक्ति में इतना अधिक नैकट्य आ गया है कि उसकी लपटों से मुर्दे ही बच सकते हैं। निस्सन्देह हमारे तरुण कहानीकार मुर्दे नहीं हैं। वे गतिशील हैं, विभिन्न दिशाओं की ओर अग्रसर हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है। हम अपने को कल्याण-राज्य का नागरिक कहते हैं। हम गणतंत्रात्मक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। अत: भीतर और बाहर के सभी शत्रुओं पर कड़ी निगाह रखनी आवश्यक है। अपने देश और अपने चारों ओर के निकटवर्ती जीवन पर दृष्टि रखते हुए, 'भारतीयपन' पर ध्यान रखते हुए, हमारे लेखकों को संसार के अन्य मूर्द्धन्य लेखकों के साथ भी क़दम-से-क़दम मिलाकर चलना है।

सन्तोष का विषय है कि सर्वथा नए कथाकारों की एक नई परम्परा बन रही है, जो अपनी कला के इस गरिमापूर्ण उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि सामाजिक दायित्व-बोध और जीवन-यथार्थ के उद्घाटन का दावा करने वाले लेखक १९५० के पश्चात् दस वर्ष के अन्तर्गत ही आत्म-परक विश्लेषण-धारा को आत्मसात् कर वैयक्तिक चेतना को चित्रित करने लगे, जिसे पहले वे

निन्दनीय बताते थे, और कहानीकारों को 'डाक्टरों' की संज्ञा देकर उनके अध्ययन कक्ष को ऑपरेशन थिएटर की संज्ञा देते थे और उनके पात्रों को अस्वस्थ एवं विकारग्रस्त घोषित करते थे । मोहन राकेश की 'कई एक अकेले', 'ज़ख़्म' तथा 'सेफ़्टीपिन', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', 'एक समर्पित महिला' तथा 'एक इतिश्री', राजेन्द्र यादव की 'एक कटी हुई कहानी', 'किनारे-से-किनारे तक' तथा 'छोटे-छोटे ताजमहल', कमलेश्वर की 'तलाश', 'ऊपर उठता हुआ मकान', 'माँस का दरिया', निर्मल वर्मा की 'अन्तर', 'दहलीज़', 'पराए शहर में', श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा', 'टोर्सो', मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी', उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ' आदि कहानियाँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं । जिस प्रकार इन कहानीकारों ने १९५० में जैनेन्द्र-'अज्ञेय'-परम्परा के प्रति 'विद्रोह' करके सामाजिक यथार्थ की धारा को नए रूप में विकसित किया, उसी प्रकार १९६० के बाद सर्वथा नए कहानीकारों की एक पंक्ति बड़ी तत्परता से 'विद्रोह' करती दृष्टिगोचर होती है और आज की कहानी को पुनः आत्म-परकता से हटा कर जीवन से सम्बद्ध करने की दिशा में प्रयत्नशील लक्षित होती है। सुरेश सिनहा की 'मृत्यु और.....' 'कई कुहरे', 'तट से छूटे हुए', रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का आदमी', 'इतवार का एक दिन', ज्ञानरंजन की 'फेन्स के इधर और उधर', 'पिता', विनीता पल्लवी की 'रात और दिन', 'साथ होते हुए', सुधा अरोड़ा की 'एक अविवाहित पृष्ठ', 'एक सेंटीमेंटल डायरी की मौत' आदि कहानियों को ऊपर उल्लिखित कहानियों के कन्ट्रास्ट में देखा जा सकता है—जहाँ तक जीवन से सम्बन्धित होने का प्रश्न है । उन्होंने कला का आदर्श पा लिया है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनके क़दम उस ओर बढ़ रहे हैं, यह देखकर हिन्दी कहानी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत किया जा सकता है । ये कहानियाँ पढ़कर एक निष्कर्ष यह अवश्य निकाला जा सकता है कि लेखक स्वयं मध्य वर्ग के हैं और उन्होंने

अधिकांशत: मध्य वर्ग के विद्रूपता और कुरूपतापूर्ण जीवन का चित्रण किया है। उन्होंने अपने वर्गीय जीवन के खण्डित दर्पण में अपने चेहरे देखे हैं। निस्संदेह संसार के लगभग सभी देशों में साहित्य और कला के क्षेत्र में नेतृत्व उच्च और, अब आजकल, मध्य वर्ग के हाथ में रहा है। वर्तमान रूस अपवाद-स्वरूप है। वहाँ तो मज़दूर कवियों का आविर्भाव हो रहा है। मध्यवर्गीय लेखक या कलाकार भी मज़दूरों का, शोषितों-पीड़ितों का वर्णन करता है, या कर सकता है, किन्तु वह केवल बौद्धिक सहानुभूति होगी। यही कारण है कि इन नए कहानी-लेखकों ने अपने को वर्गीय जीवन तक ही सीमित रखा है। उनकी सचाई की दाद दिए विना नहीं रहा जा सकता। उनका साहस सराहनीय है। इन कहानीकारों में भविष्य के प्रति गहरी सम्भावनाएँ हैं। उन्होंने निकट अतीत के कहानी-लेखकों की अपेक्षा कलात्मक या शैलीगत विशेषताएँ प्रकट की हैं। चेतन—प्रवाह पद्धति से दूर का सम्बन्ध होते हुए भी उनकी कहानियों में निष्क्रियता नहीं है। उनके पात्र अपने मन से जूझते हुए हुए सामाजिक परिस्थितियों से भी जूझते हैं।

आज की नई पीढ़ी के कहानीकारों की रचनाओं से यह बात बड़ी स्पष्टता से लक्षित होती है कि मनुष्य एक भौतिक इकाई है। वह बाहर से सक्रिय तो रहता ही है, भीतर से भी सक्रिय रहता है। मनुष्य किसी भी क्षण जड़ नहीं है। सामाजिक घात-प्रतिघात से मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिक्रिया प्रकट करता है। ये कहानियाँ यथार्थ-प्रधान होती हैं। उनमें त्वरित गति होती है और वे काल और स्थान-निरपेक्ष होती हैं। उनमें मानव-मन की ग्रंथियों को खोलने का प्रयास होता है, न कि कुंठित और दमित व्यक्तित्व का चित्रण। मानव-मन की ग्रंथियों को खोलना एक प्रकार के मानसिक रेचन का उपयोग करना है। फलत: इन कहानियों का व्यक्ति विषमताओं और कुप्रवृत्तियों से पीड़ित होने पर भी स्वस्थ है। ये रचनाएँ समाज पर करारा व्यंग्य कसती हैं और समाज को अपनी ओर देखने के लिए बाध्य करती हैं। कहना चाहिए

व्यक्ति ही समाज का रूप धारण कर, फलतः व्यक्ति और समाज में समन्वय उपस्थित कर, नव-सर्जन की उत्कण्ठा और जीवनपरकता व्यक्त करता है। ये कहानियाँ युग की व्यापक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें यदि कहीं नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं भी है, तो नवीन मूल्यों की ओर संकेत अवश्य ही है। संकेत इसलिए, क्योंकि आज की कहानी व्यंजना प्रधान रहती है। उनका मूलाधार मानवतावादी है—मनुष्य में मनुष्य की पहचान और मनुष्य की नैतिक ज़िम्मेदारी का मांगलिक रूप।

४

मूल्य-मर्यादा और प्रतिमान

इस समय मेरे सामने नई पीढ़ी के कहानीकारों की कई कहानियाँ हैं, जिनमें राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा', श्रीकान्त वर्मा की 'टोर्सो' और 'शव-यात्रा', मार्कण्डेय की 'माई' और कुछ कहानियाँ रमेश बक्षी की, निर्मल वर्मा की 'अन्तर', मोहन राकेश की 'ज़ख्म' और 'ग्लासटैंक', कमलेश्वर की 'पीला गुलाब' आदि कहानियाँ भी हैं। इन कहानियों को पढ़ने के बाद मैं श्री मोहन राकेश का यह वक्तव्य पढ़ता हूँ कि नई कहानी ने मूल्यों की मर्यादा पहचानी है और मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखते हुए नए प्रतिमान स्थापित करने की चेष्टा की है। इन कहानियों को पढ़कर यह कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। गत दस वर्षों में सेक्स के सम्बन्ध में हमारे ये नए कहानीकार सीमा का पर्याप्त अंशों में अतिक्रमण कर काफ़ी आगे बढ़ गए हैं। स्त्री-पुरुष के सेक्स-सम्बन्धों, तनाव एवं कटुता, मानसिक असंतोष आदि को लेकर तो पहले भी बहुत कहानियाँ लिखी गई थीं। जैनेन्द्र कुमार और 'अज्ञेय' की कहानियाँ इस सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत की गई थीं। १९५० के पश्चात् स्वातंत्र्योत्तर काल में भी कई कहानीकारों ने उसी परंपरा में कई अच्छी कहानियाँ लिखी थीं, जिनमें राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', मोहन राकेश की 'मिस पाल', नरेश मेहता की 'चाँदनी', अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ', निर्मल वर्मा की 'लवर्स' आदि अनेक कहानियाँ हैं, पर उसके बाद ही सेक्स-प्रधान कहानियों का ऐसा दौर आया जिससे ऐसा आभास होने लगा कि शायद

'नई' कहानी यही है। इनमें से कुछ कहानियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

इन कहानियों में सेक्स के छिछले-से-छिछले स्तर को उठाने में भी संकोच नहीं किया गया है। लेस्बियन्स की भावना लेकर—अर्थात् एक स्त्री का दूसरी स्त्री से प्रेम करना और आपस में ही काम-भावना की तुष्टि करना—इन कहानीकारों ने रचनाएँ की। मार्कण्डेय अपनी कहानी में कथा-नायिका को बाथरूम में निरावरण कर नौकर की गोद में डालकर विभिन्न प्रतीकों एवं प्रक्रियाओं द्वारा पाठकों के मन में जुगुप्सा उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। राजेन्द्र यादव ने 'प्रतीक्षा' में उसी लेस्बियन प्रवृत्ति के आधार पर दो लड़कियों को लेकर एक काफ़ी लम्बी कहानी की रचना कर पाठकों को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि काम-भावना की तुष्टि स्त्रियाँ आपस में ही कर सकती हैं और पुरुषों को स्त्रियों के सम्बन्ध में उदार होकर सचेत हो जाने की आवश्यकता है। नहीं चेतेंगे, तो विवाह संस्था का ढाँचा भरभरा कर टूटते देर नहीं लगेगी—आखिर विवाह-संस्था मात्र सेक्स पर ही तो आधारित है न! श्रीकान्त वर्मा अपनी कहानियों में जीवन का घिनौने-से-घिनौने सत्य खोजकर उजागर करने में संलग्न हैं। जहाँ दूसरे कहानीकार नए जीवन-सत्य को पाने और सामाजिक यथार्थ की गहराइयों को स्पष्ट करने की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील है, वहाँ श्रीकान्त वर्मा की सारी प्रयत्नशीलता जीवन के घिनौने सत्य को पाने तक ही सीमित है, जैसे मानव-जीवन की यही पूर्णता हो! नपुंसक या वृद्ध पतियों की युवती पत्नियों को कथानक का आधार बनाकर और फिर उसके माध्यम से होटल के वेटर, मकान के दूसरे किरायेदार या पति-मित्रों द्वारा उन युवती-पत्नियों को सतीत्व-मुक्ति दिलाने की 'सजगता' तो स्वातंत्र्योत्तर काल की हर सातवीं कहानी में पाई जा सकती है। निर्मल वर्मा 'अन्तर' में एक औरत की ब्लीडिंग का चित्रण 'रसमय' ढंग से करने और पीड़ामय अनुभूति उत्पन्न करने में संलग्न

होते हैं, तो मोहन राकेश 'ज़ख्म' में 'टूटे हुए' आदमी को मदिरा पिला-कर सांत्वना दिलाने की चेष्टा करते हैं। राजकमल चौधरी और रमेश बक्षी यौन-वासना के विभिन्न ढंग और 'उत्तेजक स्थितियों की नवीनता खोजने' के दायित्व-निर्वाह में नई कला के आयाम खोजने में संलग्न रहते हैं और इस प्रकार जाने-माने सभी कथाकार यौन कुंठाओं एवं वर्जनाओं के विभिन्न आयामों को चित्रण करने को ही मूल्य-मर्यादा और प्रतिमान समझ बैठे हैं और ईमानदारी से इसका निर्वाह भी कर रहे हैं। यह यात्रा यहीं नही समाप्त होती। १९६० के बाद जहाँ इस प्रवृत्ति के प्रति हम विद्रोह की भावना पाते हैं, वहीं कुछ ऐसे भी नए कथाकार हैं, जो इन प्रतिक्रिया-वादी तत्वों को लेकर ही अपनी 'सृजनशीलता' को नए आयाम देने की चेष्टा कर रहे हैं। उन्होंने जैसे अपने पिछले दशक से प्रतिक्रियावादी तत्वों को अपनी कहानियों में मुखरित करने का दायित्व स्वीकार किया है और अब वे उसी ईमानदारी से उसका निर्वाह करने की दिशा में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस सम्बन्ध में एकदम आज के कहानीकार की एक कहानी का सन्दर्भ दिया जा सकता है, जिसमें एक पति अपनी माता या पिता (इस समय ठीक स्मरण नहीं है) को सीढ़ियों से ढकेलकर रक्तपात करता है, क्योंकि उसे अपनी पत्नी से संभोग करने का अवसर नहीं मिलता। उनकी सभी कहानियाँ श्रीकान्त वर्मा की भाँति जीवन के घिनौने सत्यों को खोजने में लगी हुई हैं। इसी प्रकार अन्य कुछ दूसरे कथाकार है, जो अपने पड़ोसियों, मित्रों या सम्बन्धियों के यहाँ 'सामग्री' खोजने के लिए ही जाते हैं, ताकि यौन भावना की पूर्ति हो सके। जगदीश चतुर्वेदी की कई कहानियाँ, विशेषतया 'अधखिले गुलाब', इसी प्रकार की हैं।

इस कुण्ठा, वर्जना अथवा प्रतिक्रियावादी तत्वों के प्रति अतिरिक्त मोह का कारण क्या है? इसे समझते देर नहीं लगेगी। स्वातंत्र्योत्तर काल में भार-तीय जीवन की पद्धतियों में आमूलचूल परिवर्तन आया है। पहले अध्याय में इस बात की ओर मैं स्पष्ट संकेत दे चुका हूँ। यहाँ केवल दो-एक बातें

स्पष्ट करना चाहूँगा। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् भारतवासियों की सारी आशाएँ ध्वस्त हो गईं। उन्होंने पूरे स्वाधीनता-संग्राम के दौर में यह कल्पना कर रखी थी कि दासता की शृंखलाओं के समाप्त होने और देश में स्वशासन स्थापित होने के पश्चात् यह शोषण, असमानता, आर्थिक परतंत्रता और निर्धनता समाप्त होगी और एक नया युग प्रारम्भ होगा, जिसमें वे स्वयं भागीदार होंगे। पर स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् ऐसा कुछ नहीं हुआ। दासता की शृंखलाएँ टूटीं, विदेशी लोग वापस गए और देश-भक्त नेताओं ने शासन की बागडोर सँमाली—मात्र इस परिवर्तन के और कई परिवर्तन नहीं हुआ। पहले विदेशी लोग नोंच-खसोट करते थे और लूट-पाट करते थे, अब नेता, उन्हें आगे बढ़ाने वाले तथा राजनीतिक पार्टियों को लाखों का चन्दा देने वाले पूँजीपति लोग नोंच-खसोट और लूट-पाट करने लगे, जिसमें क्लर्क से लेकर एंजीनियर, ओवरसीयर, बाँध बनाने वाले, सहकारिता चलाने वाले आदि दूसरे अधिकार-प्राप्त लोग भी अपनी-अपनी सीमाओं में सम्मिलित हो गए। बेरोज़गारी, वैषम्य, निर्धनता तथा दयनीयता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई, जिसे भाषणों, लम्बे-लम्बे दावों, कागज़ी आँकड़ों तथा टैक्सों के भार से सांत्वना देने की चेष्टा की गई। इसके फलस्वरूप नई पीढ़ी में कुण्ठा, वर्जना, घुटन, पीड़ा-निराशा तथा एक विचित्र सी आशंका का जन्म होना स्वाभाविक ही नहीं, विषम परिस्थितियों की अनिवार्यता भी थी। यह एक नई संक्रान्ति थी, जिससे सब स्तब्ध थे और दिशाहारा की भाँति भटक रहे थे और उन्हें कोई राह सुझाई नहीं पड़ रही थी। स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारे अधिकांश कहानीकार इसी नई संक्रान्ति की देन हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस संक्रान्ति को उन्होंने पूरी यथार्थता से अपनी कहानियों में उजागर किया है। निर्धनता का अभिशाप मोहन राकेश की 'मंदी', दिशा पाने की आकुलता कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ,' घूसखोरी और भ्रष्टाचार श्रीमती विजय चौहान की 'चैनल' तथा मन्नू भण्डारी की 'इन्कमटैक्स कर और नींद', विपन्नता

की घुटन अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन', ऑफ़िसरों को पटाने की और लाभ उठाने की प्रवृत्ति भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत', अत्यन्त शिक्षित होने पर भी बेरोज़गारी, नौकरियों के भ्रष्टाचार तथा विभ्रान्तता की व्यथा सुरेश सिनहा की 'नया जन्म' तथा रवीन्द्र कालिया की 'इतवार का एक दिन' आदि कहानियों में बड़ी सशक्तता, यथार्थता एवं सहजता से अभिव्यक्त हुई है और प्रत्येक दृष्टि से ये कहानियाँ श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। पर इनका पलड़ा ऊपर की बताई कहानियों से भारी नहीं है, यह सत्य है।

इन कहानीकारों ने बाद में चलकर प्रत्येक कुंठा, निराशा एवं घुटन को लेकर सेक्स से जोड़ दिया और वे अपने को अधिकाधिक संकुचित करते गए जिससे ह्रासोन्मुख एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों को अधिक प्रश्रय मिलने लगा और कहानियों का समूचा दौर एक स्वस्थ बिन्दु से प्रारम्भ होकर विघटनकारी दिशा की ओर अप्रत्याशित रूप से मुड़ गया। इससे प्रत्येक जागरूक एवं प्रबुद्ध पाठक का विस्मय में रह जाना स्वाभाविक ही था। वास्तव में कहानीकार समाज का जागरूक प्रहरी होता है। वह समाज में ही जीता है और उसकी सारी सम्भावनाएँ सामाजिक परिवेश में ही बनती-बिगड़ती हैं। उसकी समस्याएँ समाज के दूसरे लोगों से भिन्न नहीं होतीं और उसकी यथार्थता ही समाज की यथार्थता होती है—यह सब सत्य है। पर इससे भी बड़ी एक बात यह होती है कि कहानीकार समाज में रहता हुआ भी उससे ऊपर उठता है। तभी वह तटस्थ, निःसंग और निर्वैयक्तिक भाव से सारी समस्याओं, पात्रों एवं स्थितियों को यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत कर पाता है। दूसरे शब्दों में, उसे समाज में रहते हुए अपने मन की कुंठा, वर्जना, निराशा और इसी प्रकार के दूसरे भावों से जूझते हुए विषम परिस्थितियों से उभरना पड़ता है। तभी वह कलाकार बनता है और यही यथार्थ कला की ज़बर्दस्त माँग होती है। ऐसा न होने पर उसमें मूल्य-मर्यादा पहचानने की क्षमता जाती रहती है और वह पूर्णतया लीन भाव से साहित्य-रचना करता

रहता है, और ऐसे-ऐसे सत्यों खोज निकालता है. जो चौंका देने वाले भले ही हों, किन्तु जिनका कोई स्थायी महत्व नहीं होता। तब उनके अपने जीवन के सारे 'मूल्य' उन्हें सामाजिक मूल्य प्रतीत होने लगते हैं और अपना यथार्थ ही व्यापक यथार्थ। यह विडम्बना नहीं तो और क्या है।

वास्तव में समाज में सारी आधुनिकता के बावजूद सारे मूल्य सेक्स, कुंठा एवं निराशा से ही सम्बन्धित नहीं होते। प्रत्येक चीज़ की अपनी एक सीमा होती है। लेखक का काम संकेत देना होता है, किसी अवांछनीय स्थिति का रसमय या विस्तार से चित्रण करना नहीं। यों तो जिन स्थितियों को हम 'अवांछनीय' कहते हैं, वे भी मानव-जीवन से से ही सम्बन्धित होती हैं; और जब उनका भोक्ता स्वयं मनुष्य ही होता है, तो प्रश्न उठाया जा सकता है कि मूल्य-मर्यादा की बात क्यों उठाई जाए या श्लीलता-अश्लीलता की समस्या क्यों उठाई जाए ? उत्तर सीधा हो सकता है कि कुछ भी नहीं। स्त्री-पुरुष के मध्य, पुरुष और पुरुष के मध्य तथा स्त्री-स्त्री के मध्य वैसे तो कुछ भी रहस्यमय नहीं और फिर साहित्य में ही उन पर क्यों प्रतिबंध-लगाया जाय—यह बात अपने आप में बड़ी मनोरंजक है। समाज, सभ्यता एवं संस्कृति ने कुछ आचार-संहिताएँ बनाई हैं जिनका मनुष्य जाति पालन करती है, जिनसे साहित्य अछूता नहीं रह सकता। कलाकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन्हीं स्थितियों को उजागर करने का प्रयत्न करे, जो समाज के व्यापक परिवेश में उपयोगी सिद्ध हों और मर्यादा के नए प्रतिमान स्थापित करे। नए उभरने वाले मूल्यों को उभारना और उनके यथार्थ परिवेश में उन्हें चित्रित करना कलाकार का उद्देश्य होता है। पर यह भी अस्वीकारा नहीं जा सकता कि उसके पास एक सूक्ष्म चयन की अन्तर्दृष्टि होती है जिसे सशक्त और सक्षम बनाना भी उसका उद्देश्य होता है। बिना इसके तो साहित्य अराजकता का अड्डा हो जाएगा और साहित्य की हर विधा में अनाचार-ही-अनाचार दृष्टिगत होने लगेगा, जिसमें

प्रगतिशीलता, आस्था एवं संकल्प का स्वर दब जाएगा और प्रतिक्रिया-वादी तत्वों का साहित्य में प्रभुत्व स्थापित हो जाएगा। मुझे खेद है स्वातंत्र्योत्तर काल में अतिरिक्त आवेश एवं उत्साह से 'नवीन सत्यान्वेषण' करने वाले अनगिनत लेखकों ने अपनी-अपनी कहानियों में ऐसे-ऐसे 'सत्य' देने की होड़ लगाई, जिनसे सहयोगी कहानीकार और उनको उछालने वाले आलोचकों को विस्मय हुआ, पर पाठकों के प्रबुद्ध समाज में उनका क्या हश्र हुआ है, उसे यहाँ दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। सत्यं शिवं सुन्दरम् की भावना आधुनिकता से कहीं अधिक शक्तिशाली है, हमारे नए कहानीकारों को यह स्मरण रखना चाहिए, क्योंकि भारत अन्ततोगत्वा भारत ही रहेगा, न्यूयॉर्क वाला अमरीका, प्राग वाला चेकोस्लोवाकिया या लन्दन वाला ब्रिटेन नहीं बन जाएगा।

५

कहानीकार की प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व

मूल्य-मर्यादा और प्रतिमान के सन्दर्भ में चर्चा करते समय कहानीकार की प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व के निर्वाह की चर्चा भी उठती है। ये दो बातें ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध में आज की कहानी में बार-बार प्रश्न उठाए जाते हैं और अपने-अपने ढंग से उसका उत्तर भी दिया जाता है। पहले कहानीकार की प्रतिबद्धता की ही बात लें। प्रतिबद्धता से हमारा क्या अभिप्राय होता है या लेखक का उससे क्या आशय होता है? लेखक उसे अपना घोषणा-पत्र कह सकता है, अपना 'कमिटमेण्ट' कह सकता है। पाठक या हम उस प्रतिबद्धता को उसकी कहानियों में खोजते हैं। प्रतिबद्धता की कई सीमाएँ हो सकती हैं—आर्थिक-राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, आत्मपरक, कुण्ठापरक, सेक्सजनित, आस्थाहीन आदि-आदि या इन सबका समन्वित विराट बोध का आभास देने वाली प्रतिबद्धता। इसी सन्दर्भ में सामाजिक दायित्व की बात कही जाती है, क्योंकि आखिरकार कहानीकार समाज का जागरूक प्रहरी होता है और समाज की समस्याओं, पीड़ा-व्यथा, आशा-निराशा और नए यथार्थ का स्वाभाविक चित्रण करना ही उसका सामाजिक दायित्व होता है जिसका निर्वाह करने का प्रयास वह करता है, या कम-से-कम जिसका वह दावा करता है।

सबसे पहले स्वयं 'नई' कहानी की प्रतिबद्धता पर ही विचार करें, जो अपने आप सामाजिक दायित्व से जुड़ जाती है, क्योंकि 'समाज से

असम्पृक्त नई कहानी हो ही नहीं सकती'—यह मानकर ही 'नई' कहानी का जन्म हुआ था।

'नई' कहानी अर्थात् आज की कहानी की सबसे बड़ी विशेपता उसका सामाजिक बोध है। पिछले कई अध्यायों में स्वातन्त्र्योत्तर काल की भारतीय जीवन-पद्धति में हुए परिवर्तनों की ओर संकेत दिया जा चुका है। जीवन-पद्धति की दृष्टि से यह एक नया काल था। जिस पश्चिम की जाति के सम्पर्क में हम एक लम्बे युग तक रहे और जिसने हमारी जीवन-पद्धति के बारीक-से-बारीक रेशे को प्रभावित किया था, उसका यह चरम काल था। हममें से एक ऐसा वर्ग, जो बड़े नगरों का वर्ग था, रातों-रात पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार एवं भाषा-साहित्य को अपना लेना चाहता था, क्योंकि उसके लिए स्वतन्त्रता का अर्थ वही था और वह किसी भी रूप में पिछड़े हुए निर्धन देश का नागरिक बना रहना नहीं चाहता था। आधुनिकता के लिए खींचतान कदाचित् इतने विषम रूप में हमारे जीवन में इसी काल से प्रारम्भ हुई। इससे हमारे जीवन में भी निश्चित रूप से अकेलेपन या अजनबीपन की भावना बढ़ी और व्यक्ति समाज में रहते हुए भी अलग-अलग इकाई बनता गया और उसके अस्तित्व की चिन्ता उसे सताने लगी। इसका कारण स्पष्ट था। आर्थिक विषमताएँ इतनी बढ़ गई थीं कि संयुक्त परिवार प्रथा के ध्वंसावशेष भी शेष न रह गए और रह भी नहीं सकते। बड़े नगरों की बात छोड़ दें, तो कस्बों एवं ग्रामों में भी यही अलगाव की प्रवृति बढ़ती गई और संस्था में से संस्था, फिर उसमें से दूसरी संस्था, इसी प्रकार संस्थाएँ बनती गईं और हर व्यक्ति अपने में ही सिमट कर एक संस्था बन गया। स्वातंत्र्योत्तर कालीन भारतीय जीवन-पद्धति का यह सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन था और इसने हमारे नई कहानीकारों का ध्येय बहुत आकृष्ट किया। यहाँ तक कि पति-पत्नी, माता-पिता और पुत्र-पुत्री, भाई-भाई और भाई-बहन तक एक दूसरे के लिए अजनबी और अपरिचित से हो गए और

इस प्रकार की विभिन्न स्थितियों पर ढेर सारी कहानियाँ लिखी गईं। उन्हें हम इस प्रकार की कोटियों में रख सकते हैं :

१—पति-पत्नी का अजनबीपन—आत्मपरक दृष्टिकोण से : नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', राजेन्द्र यादव की 'टूटना' आदि कहानियाँ।

२—पति-पत्नी का अजनबीपन—सामाजिक सन्दर्भों में : सुरेश सिनहा की 'टकराता हुआ आकाश', मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी' आदि कहानियाँ।

३—माँ-पुत्री का अजनबीपन—सामाजिक सन्दर्भों में : कमलेश्वर की 'तलाश' कहानी।

४—पारिवारिक अजनबीपन—सामाजिक सन्दर्भों में : सुरेश सिनहा की 'एक अपरिचित दायरा', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', रवीन्द्र कालिया की 'इतवार का एक दिन' आदि कहानियाँ। कृष्णा सोबती की 'बदली बरस गई'।

५—पारिवारिक अजनबीपन—आत्मपरक सन्दर्भों में : धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं', सुरेश सिनहा की 'पानी की मीनारें', सुधा अरोड़ा की 'एक अविवाहित पृष्ठ' तथा ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए' कहानी।

६—पिता-पुत्री का अजनबीपन—आत्मपरक सन्दर्भों में : निर्मल वर्मा की 'माया दर्पण' कहानी।

७—बहिन-बहिन का अजनबीपन—आत्मपरक सन्दर्भों में : निर्मल वर्मा की 'दहलीज़' कहानी। सामाजिक सन्दर्भों में : सुरेश सिनहा की 'विदा यात्रा का आखिरी सूरज'।

८—दूसरे नगर, समाज, लोगों के बीच में जाने और वहाँ अपने को मिस-फिट पाने तथा अजनबी होने की भावना : निर्मल वर्मा की 'पराए शहर में' (प्राग), उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ' (न्यूयार्क), रामकुमार की 'पेरिस की एक शाम' (पेरिस), सुरेश सिनहा

की 'अपरिचित शहर में' (दिल्ली) आदि कहानियाँ जिनमें क्रमशः प्राग, न्यूयॉर्क, पेरिस और दिल्ली आदि नगरों की स्थानीय संस्कृति, जीवन-परिवेश एवं आचार-व्यवहार की आधुनिकता के बहाने यथार्थ जीवन एवं मानव-मूल्यों के विघटन की अभिव्यक्ति है।

जीवन में अजनबीपन के बाद हमारे जीवन में जो दूसरा परिवर्तन आया है, वह है पति-पत्नी के नए सम्बन्ध—अर्थात् दोनों के व्यक्तिगत अहं, स्वतन्त्र सत्ता एवं अस्तित्व, तनाव, कटुता और अन्तिम परिणति तलाक़। इसने भी हमारे कहानीकारों को बहुत प्रभावित किया है और इस विषय पर कुछ अच्छी कहानियाँ देखने में आई हैं :

९—पति-पत्नी के नए सम्बन्ध : आत्मपरक दृष्टिकोण से : मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी' तथा 'सुहागिनें' आदि कहानियाँ।

१०—पति-पत्नी के सम्बन्ध : सामाजिक सन्दर्भों में : धर्मवीर भारती की 'सावित्री नम्बर दो', मन्नू भण्डारी की 'आकाश के आईने में' तथा सुरेश सिनहा की 'नीली धुंध के आर-पार' 'कई कुहरे' तथा 'मुर्दा क्षण', उषा प्रियंवदा' की 'कोई नहीं आदि कहानियाँ।

प्रेम के सम्बन्ध में इस स्वातंत्र्योत्तर काल में अनेक परिवर्तन देखने को मिले हैं। इस काल के पूर्व प्रेमचन्द या यशपाल की प्रेम-कहानियों में जो सामाजिकता या जैनेन्द्र कुमार और 'अज्ञेय' की प्रेम-कहानियों में जो भावुकता लक्षित होती थी, वह इस काल में नहीं दिखाई पड़ती और प्रेम-सम्बन्धों में भी स्वार्थ, वासना, उद्देश्य तथा अपने-अपने व्यक्तित्वों के परस्पर उन्मीलन की सफलता या असफलता लक्षित होती है। भावुकता से भरा हुआ प्रेम इस काल में बहुत ही कम कहानियों में देखने को मिला है। प्रेम में स्वार्थ से अभिप्राय उस सामाजिक परिवर्तन से है, जिसमें नारी इतनी 'आधुनिक' और 'प्रगतिशील' बन

गई कि उसे अफ़सरों, मंत्रियों एवं दूसरे अधिकार-प्राप्त लोगों से प्रेम करने, नारीत्व बेचने और स्वार्थ-पूर्ति करने का साधन बनाया गया। वासनात्मक प्रेम तो ख़ैर लोकप्रिय बात है, जो स्वाभाविक भी है, और वह मानव जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। उद्देश्य से अभिप्राय उस नई चेतना से है, जिसमें नारी और पुरुष दोनों प्रेम करने के पूर्व या एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने के पूर्व अपने जीवन के महती उद्देश्यों के सन्दर्भ में एक दूसरे को सोचने लगे। प्रेम में व्यक्तित्व के उन्मीलन का अभिप्राय यह है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में जिस नई चेतना का विकास हुआ, उसमें नारी का एक नया सशक्त अहं विकसित होता दृष्टिगोचर होता है। उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व बना और चूँकि वह आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी बन चुकी थी, इस लिए निजी अस्तित्व का भी प्रश्न उठा। पुरुष का अपना स्वतंत्र अस्तित्व तो पहले से ख़ैर था ही। इसलिए प्रेम की नई स्थिति में दोनों ही अपने-अपने अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहते थे, उसके प्रति प्रत्येक क्षण सचेत रहते थे। पर चूंकि वे प्रेम भी करना चाहते थे, इसलिए वे एक विशेष बिन्दु तक अपने-अपने अस्तित्व को एक दूसरे में मिलाने का प्रयत्न करते थे, पर उस बिन्दु को दोनों ही पार नहीं करना चाहते थे, क्योंकि जिसने वह बिन्दु पार किया नहीं कि उसका अस्तित्व शून्य में विलीन हुआ, जो दोनों में से किसी को भी गवारा नहीं था। इसलिए यदि उस विशेष बिन्दु पर बात बननी हुई, तो बन गई, नहीं तो बिगड़ गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम की जो नई स्थितियाँ स्वातन्त्र्योत्तर काल में उभरीं, उनमें दोनों ही पक्ष अतिरिक्त रूप से 'कॉन्शस' रहने लगे और भावुकता का वहाँ कोई महत्व शेष न रह गया। यह प्रेम का नया यथार्थ था, जिसे कहानीकारों ने बहुत बड़ी संख्या में अपनी कहानियों में चित्रित किया। प्रेम प्रत्येक काल में ही साहित्यकारों का प्रिय विषय रहा है :

११—प्रेम और स्वार्थ : सामाजिक सन्दर्भों में : सुरेश सिनहा की

'सोलहवें साल की बधाई' तथा विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' आदि कहानियाँ।

१२—प्रेम और वासना : आत्मपरक दृष्टिकोण से निर्मल वर्मा की 'लवर्स', मोहन राकेश की 'वासना की छाया में', नरेश मेहता की 'वर्षा भीगी' तथा सुधा अरोड़ा की 'एक सेंटीमेंटल डायरी की मौत' आदि कहानियाँ।

१३—प्रेम और उद्देश्य : सामाजिक सन्दर्भों में : मन्नू भण्डारी की 'यही सच है', कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे', विनीता पल्लवी की 'एक अनउगा दिन' आदि कहानियाँ।

१४—प्रेम और उद्देश्य: आत्मपरक सन्दर्भों में : निर्मल वर्मा की 'तीसरा गवाह', राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', सुधा अरोड़ा की 'एक मैली सुबह' आदि कहानियाँ।

१५—प्रेम और अस्तित्व के उन्मीलन की समस्या: आत्मपरक सन्दर्भों में : निर्मल वर्मा की 'पिक्चर पोस्टकार्ड', नरेश मेहता की 'एक इतिश्री', मोहन राकेश की 'पाँचवे माले का फ़्लैट', राजेन्द्र यादव की 'पुराने नाले पर नया फ़्लैट', कमलेश्वर की 'पीला गुलाब', उषा प्रियंवदा की 'पचपन खम्भे लाल दीवारें', कृष्णा सोबती की 'डार से बिछुड़ी', मन्नू भण्डारी की 'गति का चुम्बन', विनीता पल्लवी की 'फागुन का पहला दिन' आदि कहानियाँ।

१६—राजनीतिक जीवन की कहानियाँ : मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', नरेश मेहता की 'वह मर्द थी', अमरकान्त की 'हत्यारे', सुरेश सिनहा की 'वतन', फणीश्वरनाथ रेणु की 'पंच लाइट', कमलेश्वर की 'जॉर्ज पंचम की नाक' आदि कहानियाँ, जिनमें विभाजन, राजनीतिक हथकण्डों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव, पंचों की राजनीति या नेताओं की प्रवृत्ति आदि पर व्यंग्यपूर्ण शैली में चित्रण है।

१७—बेरोज़गारी की कहानियाँ: अमरकान्त की 'इन्टरव्यू' तथा सुरेश सिनहा की 'नया जन्म'। इन दोनों कहानियों में आजकल नौकरी देने के बहाने किए जाने वाले रोज़गार, इन्टरव्यू का नाटक, भाई-भतीजावाद आदि यथार्थ स्थितियों को लेकर नई पीढ़ी की कुंठा, निराशा एवं टूटन को सामाजिक सन्दर्भों में यथार्थता से चित्रित किया गया है।

१८—आंचलिक कहानियाँ: शैलेश मटियानी, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय आदि की कई कहानियाँ, जिनमें किसी ग्राम विशेष की स्थानीय संस्कृति, लोक-व्यवहार की भाषा, मुहावरे तथा जीवन आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है।

१९—भ्रष्टाचार की कहानियाँ: मोहन राकेश की 'काला रोज़गार', श्रीमती विजय चौहान की 'चैनल' तथा मन्नू भण्डारी की 'इन्कमटैक्स, कर और नींद' आदि कहानियाँ।

पीढ़ियों का संघर्ष इस स्वातंत्र्योत्तर काल में एक प्रमुख समस्या रही है। यह एक संक्रान्ति का युग था, जिसमें पुराने प्रतिमान टूट रहे थे और नए मूल्य उभर रहे थे। पुरानी पीढ़ी अविश्वास और विचित्र आशंका से इस नई पीढ़ी, नए उभरने वाले मूल्यों और आधुनिकता की नवीनतम प्रवृत्तियों को देख रही थी और नई पीढ़ी को सारे पुराने प्रतिमान रूढ़ और अव्यावहारिक प्रतीत हो रहे थे। ऐसी स्थिति में दोनों पीढ़ियों में संघर्ष होना स्वाभाविक ही था, जिसका अन्त पुरानी पीढ़ी की पराजय में ही होता था, क्योंकि सभी कहानीकार नई पीढ़ी के थे और वे अपनी पीढ़ी के विचारों एवं आदर्शों की सार्थकता तथा उपयोगिता किसी-न-किसी प्रकार सिद्ध करना ही चाहते थे। इस विषय को लेकर कई मार्मिक कहानियाँ लिखी गई हैं, जिनमें दोनों पीढ़ियों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातें बड़ी बारीकी से यथार्थ परिवेश में उभारी गई हैं। किन्तु महत्वपूर्ण वे कहानियाँ हैं जो सामाजिक सन्दर्भों में लिखी गई हैं। जब आत्मपरक ढंग से उनका विश्लेषण किया गया है, तो

वे कहानियाँ बहुत सूक्ष्म हो गई हैं और उनमें फिर वही अजनबीपन, अकेलापन, कुंठा, आस्थाहीनता तथा अविश्वास और विभ्रान्तता आ गई है ।

२०—पीढ़ियों का संघर्ष : सामाजिक सन्दर्भों में : धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं', राजेन्द्र यादव की 'पास-फेल', मोहन राकेश की 'जंगला', कमलेश्वर की 'देवा की माँ', सुरेश सिनहा की 'सुबह होने तक', उषा प्रियंवदा की 'खुले हुए दरवाज़े', विनीता पल्लवी की 'ऊपर-नीचे', सुधा अरोड़ा की 'एक अविवाहित पृष्ठ' आदि कहानियाँ ।

२१—पीढ़ियों का संघर्ष: आत्मपरक दृष्टिकोण से: निर्मल वर्मा की 'कुत्ते की मौत', ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए', सुरेश सिनहा की 'तट से छुटे हुए' आदि कहानियाँ ।

२२—नारी जीवन के आधुनिक आयामों (प्रेम-विवाह-नौकरी आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ तथा मिसफ़िट होने की प्रवृत्ति) को लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ : मोहन राकेश की 'ग्लासटैंक', कमलेश्वर की 'जो लिखा नहीं जाता', फणीश्वर नाथ 'रेणु' की 'टेबुल', नरेश मेहता की 'दूसरे की पत्नी के पत्र', राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ', सुरेश सिनहा की 'मुर्दा क्षण', विनीता पल्लवी की 'काले गुलाब का प्रेत', उषा प्रियंवदा की 'झूठा दर्पण', कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया', मन्नू भण्डारी की 'कील और कसक' तथा सुधा अरोड़ा की 'एक सेंटीमेंटल डायरी की मौत' आदि कहानियाँ ।

२३—सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार की कहानियाँ : धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो', भीष्म साहनी की 'पहला पाठ' तथा 'समाधि भाई रामसिंह', फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'तीर्थोदक' मन्नू भण्डारी की 'सयानी बुआ' तथा सुरेश सिनहा की 'मृत्यु

६

आज की कहानी और आधुनिक परिवेश

वास्तव में आज की कहानी को समझने के लिए उसकी आधुनिकता क्या है, यह समझना पहले आवश्यक है। वैसे तो 'आधुनिकता' सापेक्षिक शब्द है। सम्प्रति 'आधुनिक' या 'आधुनिकता' से क्या तात्पर्य है, इस सम्बन्ध में काफ़ी वाद-विवाद चल रहा है। कारण यह है कि 'आधुनिकता' जीवन और साहित्य में पहली बार आई हो, ऐसी बात तो नहीं है। 'आधुनिकता' तो इतिहास में समय-समय पर आती रही है और आती रहेगी। आज का जीवन-क्रम तो इतनी तेज़ी से बदल रहा है कि जब तक हम एक प्रकार की 'आधुनिकता' को समझने की चेष्टा करते हैं, तब तक दूसरी 'आधुनिकता' आ जाती है। सम्भवतः आज जैसी स्थिति पहले कभी नहीं उत्पन्न हुई थी, इसलिए पहले इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। आज की 'आधुनिकता' ही कल की 'ऐतिहासिकता' बन जाती है। किन्तु जब कुछ लोग 'आधुनिकता' की व्याख्या करते समय उसे समसामयिकता या पुरातनता से भिन्न और इतिहास तथा ऐतिहासिकता से विच्छिन्न क्रम स्वीकारते हैं, तो उनके ग्राम्य भाव पर हँसी आए बिना नहीं रहती। इतिहास और ऐतिहासिकता की व्याख्या संसार के किसी भी विचारक ने किसी भी रूप में की हो, किसी ने उसे 'आधुनिक' से स्वतन्त्र और विच्छिन्न क्रम नहीं स्वीकारा। इसलिए प्रश्न यह उठता है कि तब क्यों 'आधुनिकता' की व्याख्या करने का प्रयास किया जा रहा है। सम्भवतः आधुनिक साहित्य के जटिल और दुरूह भाव-बोध को स्पष्ट करने के लिए। इस बात की ओर पहले संकेत किया जा चुका है कि पिछले दो महायुद्धों और आणविक शक्ति

के संहारक प्रयोग के फलस्वरूप मानव-जीवन में कितनी दुरूहताएँ उत्पन्न हो गई हैं। उनके बाद के आधुनिक विज्ञान और टेकनोलॉजी, संसार के अनेक देशों में साम्राज्यवाद के अन्त और फलतः नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में सामाजिक-आर्थिक प्रगति की योजनाओं, और आकांक्षाओं, अत्यधिक औद्योगीकरण और उसके फलस्वरूप अनेक विषमताओं आदि ने एक नए मानव मन का निर्माण किया है। 'आधुनिकता' इसी से उत्पन्न स्थिति है, जिसके तत्व समसामयिकता में सन्निहित हैं। ऐतिहासिक बोध, वैज्ञानिक वस्तुपरकता, टेकनोलॉजी, धर्म-निरपेक्षता और 'destination man', ये आधुनिकता के मूल मंत्र हैं।

मानव-जीवन की अखण्डता या खण्डता, नई लय, गति, आधुनिक वैज्ञानिक युग की छाप, आधुनिक संघर्षपूर्ण युग, ऐसा युग जो एक हाथ में निर्माण और दूसरे हाथ में संहार लिए हुए है, की मननशीलता लिए है—आज की कहानी में जब चित्रित होते हैं तो वह आधुनिकता का ही चित्रण होता है। जब हम कहते हैं कि अतिशय बौद्धिकता आदि कुछ दोष उत्पन्न हो जाने पर भी आज की कहानी का भविष्य आशामय है, वह अपनी धरती की उपज है, उसका रूप-रंग 'दूर-देश' से उधार माँगा हुआ नहीं है, विषय, शिल्प और समाजोन्मुखता सभी दृष्टिकोणों से उसमें अपनापन और संघर्षों के बीच सजीवता का स्पन्दन है, तो ऐसा हम आधुनिकता के ही सन्दर्भ में कहते हैं, क्योंकि आज की कहानी आधुनिकता से अन्तरसंगुफित है।

आज के नए कहानीकारों में परम्परा के प्रति कोई आस्था और आसक्ति नहीं रह गई। वे उसे आज के संघर्षपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अपूर्ण समझते हैं। आज की हिन्दी कहानी पर पिछले दो महायुद्धों के फलस्वरूप उत्पन्न विषमताओं का गहरा प्रभाव है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परम्पराओं—संक्षेप में समूचे मानव-जीवन—के प्रति इतनी निराशाजन्य अनासक्ति और अविश्वास तथा उदासीनता पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। आणविक अस्त्र-

शस्त्रों की कल्पना कर वह सोचता है—क्या युग-युग से अपने को सुसंस्कृत और सभ्य कहने वाले मनुष्य की यही (ध्वंस) लीला है ? और फिर जब वह भविष्य को अपनी ओर मुँह बाए दौड़ता देखता है, तो उसका प्राण-मर्म काँप उठता है। इस भयंकर आशंका ने उसकी चेतना को कुंठित कर दिया है। लेकिन साथ-ही वह स्वयं मोहग्रस्त है—उसे जीवन का स्पष्ट मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है। यही कारण है कि आज की कहानी की दुरूहता और अस्पष्टता बढ़ती जा रही है। स्वस्थ दृष्टिकोण का पूर्णतः अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अधकचरी बुद्धिवादिता तो रस में विष घोल रही हैं। तथाकथित बुद्धिवादी कहानीकारों में से अधिकांश तो 'अध जल गगरी छलकत जाय' वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं।

नवीन सामाजिक चेतना और मध्यवर्गीय कटु अतृप्ति के साथ-साथ बौद्धिकता ने आज के कहानीकारों के संवेदनशील मन को झंकृत किया है और जैसा कि कहा गया है-'उनमें मतैक्य नहीं है'-जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, कला-शिल्प और दायित्वों के विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकृत नहीं करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता आदि। किन्तु 'अन्वेषी का दृष्टिकोण' उन्हें समानता के सूत्र में बाँध देता है। उन सबमें अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति असन्तोष और नए मार्ग की खोज है। उन्होंने परम्परागत भाषा-शैली और विषय के स्थान पर नई भाषा-शैली और नए विषयों को अपनी-अपनी कहानियों में उठाया है और आज की आधुनिकता को सूक्ष्मता के साथ अभिव्यक्त किया है। अपने पहले के युग में जैनेन्द्र कुमार-'अज्ञेय' की आत्मपरक विश्लेषण की धारा के प्रति प्रतिक्रिया के कारण और नवीन, स्पष्ट मार्ग के अभाव के कारण उनके मन में अनेक उलझनें पैदा हो गई थीं। उस

आत्मपरक विश्लेषण की धारा ने व्यक्ति की स्थापना की, और वह भी क्षय-ग्रस्त व्यक्ति की, उसमें जीवन और समाज का कोई स्थान नहीं था। आज की कहानी ने पुनः समाज को प्रधानता दी। साथ ही व्यक्ति को भी चेतना का केन्द्र बनाया—पर ऐसे व्यक्ति को नहीं, जो अस्वस्थ प्रवृत्तियों का घर है और जो बैठा-बैठा रोता रहता है। आज की कहानी वस्तुतः ऐसे व्यक्ति की स्थापना करना चाहती है जो समाज की कुरूपताओं, कलुषताओं, रूढ़ियों और खोखली परम्पराओं के प्रति विद्रोह करता है और स्वस्थ सामाजिक जीवन-दर्शन की खोज और उसके अनुरूप इतिहास-निर्माण की चेष्टा करता है। आज व्यक्ति का समाज के साथ एकीकरण की चेष्टा की जा रही है—उसमें स्वस्थ व्यक्ति का समाजीकरण किया जा रहा है—यह अभिनव आधुनिकता है। द्वितीय महायुद्ध के कारण उत्पन्न भीषण परिस्थितियों के बीच वह व्यक्ति को बचाना चाहता है, किन्तु ऐसे व्यक्ति को जिसमें समाज की सारी प्रगतिशील शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो गई हों। वह सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहना चाहता है। आज के कहानीकार की दृष्टि में सामाजिक यथार्थ का अलग-अलग रूप हो सकता है। उसकी दृष्टि भविष्य पर लगी हुई है और जीवन की संघर्षजन्य कटुताओं के बीच भी वह मानवोन्मुख है। यह आधुनिकता समष्टिगत चिन्तन पर आधारित है।

आधुनिकता का एक व्यष्टि-चिन्तन पर आधारित रूप है, जिसे कलावादी अपना रहे हैं, जिनके पास कहने के लिए कुछ नहीं है, पर कला है और आज की आधुनिकता को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने की आकुलता है। अवचेतन, अर्द्ध-चेतन, दिवा-स्वप्नों, अर्द्ध-चेतन प्रतीकों, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक संकेतों के प्रतीकात्मक प्रयोगों द्वारा ये कहानीकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं और अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने के स्थान पर यथावत् चित्र उपस्थित कर देते हैं। वह अपने मन की विकृतियों और कुण्ठाओं

का विश्लेषण करते हुए भी तटस्थ रहता है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी उसकी यह भावभूमि अभी बहुत-कुछ अस्पष्ट है जिसका कारण मुख्यतया दुरूह असफल प्रयोग एवं प्रतीक-योजना है।

आधुनिकता के समष्टिगत रूप को धर्मवीर भारती, अमरकान्त, भीष्म साहनी, कमलेश्वर और सुरेश सिनहा ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है, जो कलावादी न होकर प्रगतिशील कहानीकार हैं और जिनके लिए जीवन तथा समाज सर्वोपरि हैं। आधुनिकता के व्यष्टिगत रूप को निर्मल वर्मा, नरेश मेहता, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, विनीता पल्लवी, ज्ञानरंजन, सुधा अरोड़ा तथा रवीन्द्र कालिया आदि कहानीकारों ने अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। इसमें से लगभग सभी कहानीकारों ने, विशेषत: नरेश मेहता ने, आधुनिकता के समष्टिगत रूप को भी अपनी कई कहानियों में चित्रित किया है, पर सब मिलाकर उनका आग्रह आधुनिकता के व्यष्टिगत रूप के प्रति ही अधिक रहा है। नरेश मेहता का दृष्टिकोण इन सब कहानीकारों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ है।

जहाँ एक ओर आज के कहानीकारों ने समाज, धर्म, प्रचलित नैतिक मानदण्डों और आचार-विचारों के प्रति विद्रोह किया, वहाँ शिल्प-सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं का भी उन्मूलन कर उनके स्थान पर अभिनव कला, नवीन शब्दों, प्रतीकों आदि का प्रयोग किया है। नवीन भावों के लिए नवीन भाषा भी चाहिए—इस दिशा में आज की कहानी ने प्रयास किया है, पर अभी उसमें स्पष्टता-अस्पष्टता का मिश्रण है। वैसे आज के कहानीकारों की भाषा सरल और छोटे-छोटे वाक्यों, सुबोध तथा प्रचलित शब्दों, यहाँ तक कि उर्दू-अँग्रेज़ी शब्दों, मुहावरों और कहावतों आदि से पूर्ण होती है। भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की दिशा में आधुनिकता की यह महत्वपूर्ण देन है।

७

आज की कहानी और शिल्प

आज की कहानी के शिल्प के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में स्थान-स्थान पर चर्चा की जा चुकी है। यहाँ समग्र रूप में शिल्प, आज की कहानी के वर्गीकरण और उसके आधार की चर्चा की जाएगी।

सबसे पहले हम कथानक के ह्रास की बात लें। आधुनिक काल में संसार की लगभग सभी भाषाओं की कहानियों में कथानक का ह्रास लक्षित होता है। यह आज की कहानी में शिल्प की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण विकास है। ठोस और सुसंगठित कथानक देने की प्रवृत्ति प्रेमचन्द-यशपाल आदि पिछले दौर के लेखकों ने अपनाई थी। पर स्वातंत्र्योत्तर काल में हम जीवन को जटिल से जटिलतर हुआ पाते हैं। विषमताओं से विषमताएँ उत्पन्न हुई और प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वत्व, निजत्व या अपना अहं विकसित हुआ। इससे व्यक्ति अपने में ही सीमित हुआ और चरित्र संश्लिष्ट होते गए। इससे दुरूहताओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। नए कथाकारों का ध्यान जिस व्यक्ति की जटिलताओं एवं दुरूहताओं का अध्ययन करने के प्रति गया, इसके लिए आवश्यक था कि वे व्यक्ति के रहस्यमय मन, संश्लिष्ट चरित्र और व्यक्तित्व के प्रत्येक रेशों और उनकी मूल पृष्ठभूमि का सूक्ष्म विश्लेषण करें और उन सत्यों का अन्वेषण करें जो स्थूलता के मार्ग पर चलने के अत्यधिक आग्रह के कारण पिछले दौर में उपेक्षणीय रहे। यहाँ यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि जैनेन्द्र-'अज्ञेय' की आत्मपरक विश्लेषण की धारा में भी कथानक के ह्रास की प्रवृत्ति मिलती है, पर वह इतनी आत्म-परक

हो गई है कि जीवन-धारा से पूर्णतया असम्पृक्त, फलस्वरूप पलायनवादी प्रतीत होती है। इसके विपरीत स्वातंत्र्योत्तर काल में आज की कहानी ने व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश में ही देखने की चेष्टा की, उसे जीवन धारा से काटकर पंगु या अस्वस्थ नहीं बनाया।

इस प्रकार आज की कहानी में कथानक के ह्रास का उद्देश्य सुनिश्चत एवं स्पष्ट है। आज की कहानी ने व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश में देखते हुए मानव-व्यक्तित्व की पूर्णता को व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में पूर्ण यथार्थता से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मानव-मन का अध्ययन या चरित्र का विश्लेषण सामाजिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में होने के कारण जो सत्य सामने आए हैं, वे जीवन-धारा से सम्बद्ध हैं, इसीलिए महत्वपूर्ण हैं। आज की कहानी में कथानक का ह्रास निम्नलिखित रूपों में देखने को मिलता है,

१—मात्र व्यंजना के माध्यम से या सांकेतिकता से पूरी कहानी का संगुफन : ये कहानियाँ बहुत ही बौद्धिक हो गई हैं और उनमें प्रतीक-योजना या व्यंजना का आग्रह बहुत ही दुरूह हो गया है। कहानीकार का आग्रह सारी बातें संकेतों के माध्यम से ही स्पष्ट करने में होता है, जो निश्चय ही शिल्प का एक अत्यन्त प्रौढ़ रूप है। आज की कहानी में इस प्रकार की कहानियाँ अनगिनत संख्या में मिल जाएँगी। धर्मवीर भारती की 'सावित्री नम्बर दो', मोहन राकेश की 'ज़ख्म', नरेश मेहता की 'निशाऽऽजी', निर्मल वर्मा की 'दहलीज़', राजेन्द्र यादव की 'नए-नए आने वाले', कमलेश्वर की 'माँस का दरिया', भीष्म साहनी की 'भटकती हुई राख', सुरेश सिनहा की 'नीली धुंध के आर-पार', ज्ञानरंजन की 'सीमाएँ', रवीन्द्र कालिया की 'क ख ग', उषा प्रियंवदा की 'मछलियाँ', मन्नू भण्डारी की 'अभिनेता' आदि कहानियाँ इसी तथ्य को पुष्ट करती हैं।

२—कथानक के ह्रास का दूसरा रूप कथा-सूत्रों की विश्रृंखलता के रूप में लक्षित होती है। इसमें अपने अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के

लिए कहानीकार जिन कथा-सूत्रों को आवश्यक समझते हुए ग्रहण करता है, उन्हें भी वह एक सूत्र में संगुफित करने की आवश्यकता नहीं समझता, बल्कि उन्हीं के माध्यम से वह अपने पात्रों के मानस का विश्लेषण करते हुए उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन पर 'रिफ़्लेक्शन' डालता है। धर्मवीर भारती की 'बन्द गली का आख़िरी मकान', मोहन राकेश की 'कई एक अकेले', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', राजेन्द्र यादव की 'किनारे से किनारे तक', कमलेश्वर की 'तलाश', सुरेश सिनहा की 'तट से छुटे हुए', उषा प्रियंवदा की 'खुले हुए दरवाज़े', मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी', ज्ञानरंजन की 'खलनायिका और बारूद के फूल', रवीन्द्र कालिया की 'त्रास' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

३—कहानियाँ जहाँ समाप्त होती हैं, वहीं से आज की कहानी प्रारम्भ होती है। यह प्रवृत्ति पिछले दौर में थी और प्रेमचन्द की 'कफ़न', जैनेन्द्र कुमार की 'एक रात', 'अज्ञेय' की 'कोठरी की बात' आदि कहानियाँ इस ढंग की प्राप्त भी होती हैं। पर आज की कहानी ने इस प्रवृत्ति को और भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाने की चेष्टा की है। इस प्रकार आज की कहानी पाठकों से इस बात की माँग करती है कि जिस बिन्दु पर लाकर वह उन्हें छोड़ देती है, वहाँ से दिए गए दो-चार अस्पष्ट संकेतों, व्यंजनाओं एवं प्रतीकों से वे सारे कथानक की ही नहीं, पात्रों के चरित्रों के सम्बन्ध में भी कल्पना कर लें और अपने-अपने निष्कर्ष निकाल लें। इस प्रकार की कहानियाँ पहले दोनों वर्गों की तुलना में अधिक दुरूह, जटिल एवं बौद्धिकता का आग्रह लिए हुए होती हैं। धर्मवीर भारती की 'धुआँ', मोहन राकेश की 'सेफ़्टीपिन', राजेन्द्र यादव की 'एक कटी हुई कहानी', कमलेश्वर की 'जो लिखा नहीं जाता', नरेश मेहता की 'चाँदनी', कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया', निर्मल वर्मा की 'कुत्ते की मौत', श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा', सुरेश सिनहा की 'कई कुहरे', सुधा अरोड़ा की 'एक अविवाहित पृष्ठ', ज्ञान-

रंजन की 'सीमाएँ', रवीन्द्र कालिया की 'त्रास' आदि कहानियाँ इसी कोटि में आती हैं।

४—चरम सीमा पर जाकर कथानक के सूत्र स्पष्ट होते हैं और वहाँ जाकर सारी कहानी समझ में आती है। आज की कहानी में यह प्रवृत्ति भी बहुत लोकप्रिय है और कथानक के ह्रास के इस रूप को अनेक कहानीकारों ने अपनाया है। धर्मवीर भारती की 'हरिनाकुश का बेटा', मोहन राकेश की 'मंदी', राजेन्द्र यादव की 'सिलसिला', निर्मल वर्मा की 'लवर्स', नरेश मेहता की 'वह मर्द थी', फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'टेबुल', सुरेश सिनहा की 'सोलहवें साल की बधाई' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं जिनमें प्रारम्भ में कोई भी कथा-सूत्र स्पष्ट नहीं होता और बड़े विश्रृंखलित ढंग से 'कहानी' आगे बढ़ती है। पात्रों की भी कोई सुनिश्चित गति प्राप्त नहीं होती। पर चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर अप्रत्याशित रूप से सारे रहस्य खुलने लगते हैं और 'कहानी' वहीं समाप्त हो जाती है।

५—विचारोत्तेजक प्रलाप (रैंबलिंग) या चिंतनशील सूत्रों को लेकर भी कथानक के ह्रास की प्रवृत्ति लक्षित होती है। पर इस रूप में कम कहानियाँ देखने में आई हैं और यह अभी बहुत लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी है। धर्मवीर भारती की 'सावित्री नम्बर दो', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत' राजेन्द्र यादव की 'नए-नए आने वाले', सुरेश सिनहा की 'उदासी के टुकड़े' आदि कहानियों में इस प्रवृत्ति का किंचित् आभास मिलता है।

जहाँ तक पात्रों का सम्बन्ध है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता हैं कि आज की कहानी ने काल्पनिक पात्रों या गढ़े हुए पात्रों को लेकर कहानी लिखने की प्रवृत्ति का पूर्णतया तिरस्कार किया हैं। इस सम्बन्ध में आज की कहानी प्रेमचन्द-यशपाल की परम्परा से सम्बद्ध है। जैनेन्द्र-'अज्ञेय' की परम्परा में अपनी पलायनवादी मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए पात्रों को गढ़ा गया, जो कुंठित, विभ्रान्त, अस्वस्थ एवं टूटे

हुए लोग थे—उनमें न कहीं यथार्थता थी, न सप्राणता - वे मात्र निर्जीव कठपुतलियाँ ही थे, जिन्हें कहानीकारों ने अपना मंतव्य पूर्ण करने के लिए स्वयं ही काल्पनिक ढंग से गढ़ लिया था। इस प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति का विरोध होना स्वाभाविक ही था और आज की कहानी ने पात्रों के चुनाव के लिए अपने आस-पास के परिचित यथार्थ परिवेश, जीवन और समाज को देखा और वहीं से पात्रों को लेकर अपनी कहानियों की रचना की। इन यथार्थ पात्रों को उनके अन्तस् एवं वाह्य के सामंजस्य से पूर्ण बनाने और अपने ही व्यक्तित्व के अनुरूप जीवन में गतिशील होने की सहज एवं स्वाभाविक प्रक्रिया आज की कहानी की एक प्रमुख विशेषता है। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भी अनेक नवीनताएँ लक्षित हुईं। इस काल की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—मनोविज्ञान, फ्रॉयडवाद, गांधीवाद, समाजवाद एवं भारतीय दर्शन—इन पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुईं। चरित्र-चित्रण की नवीन प्रणालियाँ आज की कहानी में इस प्रकार प्रयुक्त होती हैं :

१—आत्म-विश्लेषण : जैसे धर्मवीर भारती की 'सावित्री नम्बर दो', सुरेश सिनहा की 'सोलहवें साल की बधाई', सुधा अरोड़ा की 'एक अविवाहित पृष्ठ', निर्मल वर्मा की 'लवर्स', राजेन्द्र यादव की 'नये-नये आने वाले' आदि कहानियाँ।

२—मानसिक द्वन्द्व एवं विश्लेषण : जैसे धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं', मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी', निर्मल वर्मा की 'माया दर्पण', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', कमलेश्वर की 'तलाश', राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ', भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', सुरेश सिनहा की 'पानी की मीनारें', ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए' तथा रवीन्द्र कालिया की 'क ख ग' आदि कहानियाँ।

३—परिस्थितियों एवं कार्य-व्यापार के मध्य चरित्रों का अध्ययन :

धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो', मोहन राकेश की 'मलवे का मालिक', अमरकान्त की 'खलनायक', मार्कण्डेय की 'हंसा जाई अकेला', मन्नू भण्डारी की 'आकाश के आईने में', कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया', फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'तीसरी क़सम' तथा सुरेश सिनहा की 'मृत्यु और......' आदि कहानियाँ ।

४—जीवन-संघर्ष में डाल कर परिस्थितियों से जूझते हुए पात्रों का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सन्दर्भ में विश्लेषण : धर्मवीर भारती की 'हरिनाकुश का बेटा', अमरकान्त की 'ज़िन्दगी और जोंक', मार्कण्डेय की 'माही', फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'टेबुल', तथा सुरेश सिनहा की 'नया जन्म' आदि कहानियाँ ।

इसके अतिरिक्त उन कहानियों में, जिनमें इस काल में भी ठोस कथानक लिए गए हैं, पात्रों के चरित्र-चित्रण की वही पुरानी पद्धतियाँ देखने को मिलती हैं—नाटकीय, विश्लेषणात्मक, अभिनयात्मक या वर्णनात्मक। धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, अमरकान्त, मार्कण्डेय, फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कई कहानियाँ इसी सन्दर्भ में देखी जा सकती हैं।

इस काल की कहानियों की भाषा के सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है, उसे यहाँ पुनः दुहराने से मात्र पिष्टपेषण ही होगा ।

अब कहानियों के वर्गीकरण पर बहुत संक्षेप में दो बातें । प्रवृत्तियों के आधार पर पीछे लेखक की प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व के सन्दर्भ में विचार किया जा चुका है। यहाँ मुख्य रूप से दो वर्गों में कहानियाँ बाँटी जा सकती हैं :

१—समष्टिगत चिंतन की कहानियाँ : इनमें वे कथाकार सम्मिलित हैं जो प्रगतिशील हैं और सामाजिक यथार्थवाद की भावना लेकर चल रहे हैं। इनमें धर्मवीर भारती, अमरकान्त,

मार्कण्डेय, भीष्म साहनी और सुरेश सिनहा प्रमुख हैं। यद्यपि इनमें से लगभग सभी ने आत्मपरक दृष्टिकोण लेकर भी कहानियाँ लिखी हैं, पर वे नगण्य हैं। इनके चिंतन का आधार समष्टिगत ही है।

२—व्यष्टि-चिंतन की कहानियाँ : इनमें मोहन राकेश, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, फणीश्वरनाथ 'रेणु', ज्ञानरंजन, सुधा अरोड़ा तथा रवीन्द्र कालिया आदि कहानीकार शामिल हैं। यद्यपि इनमें से सभी ने समष्टिगत चिंतन की कहानियाँ भी लिखी हैं और नरेश मेहता, मोहन राकेश, तथा कमलेश्वर ने तो कुछ प्रगतिशील कहानियाँ भी लिखी हैं, पर सब मिलाकर उनका आग्रह व्यष्टि-चिंतन की ओर ही अधिक रहा है।

यद्यपि यह वर्गीकरण बहुत स्थूल है, पर इससे कहानीकारों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण हो जाता है। अधिक सूक्ष्मता से विशद वर्गीकरण कहानी की अलग-अलग विशेषताओं को लेकर किया जा सकता है, जैसे प्रेम-कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, हास्य रस की कहानियाँ आदि।

कहानीकार : विचारधारा एवं उपलब्धियाँ

पिछले अध्यायों में स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रसंगों में आज के नए कहानीकारों और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में संकेत दिए गए हैं। यहाँ पिछले पन्द्रह वर्षों में उभरे कुछ प्रमुख कहानीकारों की चर्चा की जा रही है जिससे आज की कहानी और सर्जनशीलता का पूर्ण स्पष्टीकरण हो सके। पीछे कहानीकारों के दो वर्गीकरण बनाए गए थे—एक वर्ग उन कहानीकारों का जिनकी मूल भावधारा समष्टिगत चिन्तन पर आधारित है, जो प्रगतिशील हैं और सामाजिक यथार्थवाद के पोषक हैं। दूसरा वर्ग व्यष्टि-चिन्तन पर आधारित कहानीकारों का है जिन्होंने सामाजिक यथार्थ को लेकर कई सुन्दर रचनाएँ की हैं, पर जिनका मुख्य झुकाव व्यक्ति और उसकी समस्याओं की ओर अधिक रहा है, इसलिए अधिकांशतः वे आत्मपरक हो गए हैं। निम्नोल्लिखित कहानीकार इन्हीं दो वर्गों में से किसी एक के अन्तर्गत आते हैं।

नरेश मेहता (१५ फरवरी, १९२१) कहानी के क्षेत्र में अपना कवि-व्यक्तित्व लेकर आए। कवि के रूप में वे अपना एक महत्वपूर्ण स्थान पहले ही बना चुके थे, पर 'तथापि' के प्रकाशन के पश्चात् उन्होंने कहानीकारों की प्रथम पंक्ति में अपना स्थान निश्चित कर लिया। कहानी के जिस नएपन की बार-बार चर्चा की जाती है कदाचित् नरेश मेहता की कहानियाँ पहली बार उसका वास्तविक प्रतिनिधित्व करने में सफल हुई हैं। कहानी को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाने, संश्लिष्ट चरित्रों के विधान एवं कथानक के ह्रास तथा कथा-सूत्रों की विशृंखलता, अमूर्त प्रतीक-विधान एवं व्यंजना-रूपों का आधिक्य करने

में नरेश मेहता का महत्वपूर्ण योग-दान रहा है और उन्होंने आज की कहानी को एक सर्वथा अभिनव दिशा दी है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि नरेश मेहता के कहानी-क्षेत्र में आने के पूर्व हिन्दी कहानी में प्रेमचन्द की यथार्थ परम्परा का निर्वाह हो रहा था और राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर आदि सभी कहानीकार ठोस कथानक, स्थूल शिल्प आदि लेकर कहानियाँ लिख रहे थे। 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', 'नए बादल' तथा 'राजा निरबंसिया' आदि संग्रहों की कहानियाँ इसका प्रमाण है। पर नरेश मेहता ने जब कथाहीनता की प्रवृत्ति पर 'कहानी' का नया ढाँचा खड़ा किया और कहानी का आभास देने वाली 'कहानी' की रचना प्रारम्भ की, तो उसका प्रभाव स्पष्टतया सामने आना स्वाभाविक था और फिर आज की कहानी एक भिन्न दिशा में ही मुड़ गई।

नरेश मेहता ने लिखा है कि कहानी अभिव्यक्ति होती है; घटना मात्र नहीं। आज की कहानी फ़ॉर्मूला या सोद्देश्य कहानी-कला से आगे बढ़ चुकी है। प्रायः आक्षेप सुनने में आता है कि व्यक्तिवादिता ने कुण्ठा को जन्म दिया, फलस्वरूप कहानी सिर्फ शैली रह गई। लेकिन यह भी तो उतना ही सच है कि सोद्देश्यता ने कहानी को कुरूप, सम्भाषण या नारेबाजी बना दिया। भूल यही है कि इस सशक्त माध्यम को व्यक्तियों, दलों, वर्गों के स्वार्थ-साधन के लिए सौंपना नहीं चाहिए। साहित्य स्वयं एक मूल्य होता है, क्योंकि उसमें जीवन परिलक्षित होता है। आज की नागरिक सभ्यता में सब विभाजित व्यक्तित्व के हैं। इसलिए हम आग्रहों को ही जीवन या अन्तिम सत्य मान लेते हैं। साहित्यकार किसी व्यक्ति या राजनीति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। वह व्यक्तियों, दलों से ऊपर है। वह अनुयायी नहीं होता। वह तो जीवन का सहचर है। साहित्यकार जीवन से सीखता है तथा उसी को पुनः सिखाता है। इसलिए साहित्य में निषेध कुछ नहीं माना गया है। हमारा बौनापन ही होता है कि हम कुछ को निषेधते हैं तथा कुछ को कला के नाम पर स्वीकारते हैं, जब कि मानव मात्र से सम्बन्धित समग्र ही वास्तविक कला है।

स्पष्ट है कि नरेश मेहता का दृष्टिकोण आत्मपरक है। वह जीवन का सहचर होता है, यह ठीक है। पर सहचर एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सहचर होने का कोई एकतरफ़ा रास्ता नहीं है। उसी प्रकार साहित्यकार को भी जीवन के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है, तभी सहचर की भावना का सफलतापूर्वक निर्वाह हो सकता है। नहीं तो होगा यही कि जीवन एक भिन्न दिशा में गतिशील होगा, साहित्यकार सर्वथा विपरीत दिशा में। और, यह दूरी एक दिन इतनी बढ़ जायगी कि दोनों ही एक दूसरे के लिए अपरिचित और अजनबी बन जाएँगे। उनकी सबसे अच्छी कहानियाँ वे हैं, जो उन्होंने जीवन के यथार्थ को लेकर लिखी हैं। इनमें 'किसका बेटा', 'दुर्गा' तथा 'वह मर्द थी' अत्यन्त महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। इन कहानियों को देखकर मानव-जीवन के यथार्थ को पहचानने की उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं उसके यथार्थ परिवेश को अभिव्यक्ति देने की उनकी समर्थता का परिचय प्राप्त होता है। उनमें व्यापक मानव-जीवन के परिप्रेक्ष्य को संस्पर्श देकर आधुनिकता के नवीनतम आयामों को उभारने की चेष्टा की गई है। इधर वे आत्मपरक दृष्टिकोण लेकर कहानियाँ लिखने के प्रति अधिक प्रयत्नशील रहे हैं। 'निशाऽऽजी', 'चाँदनी, 'अनबीता व्यतीत' तथा 'एक इतिश्री' ऐसी हीं कहानियाँ हैं जिनमें व्यक्ति है और उसकी मनःस्थितियाँ हैं, उसकी प्रतिक्रियाएँ हैं या पड़ने वाले इम्प्रेशन हैं—जिन्हें सूक्ष्म अभिव्यक्ति देने का नरेश मेहता के पास अपूर्व कौशल है। जिस प्रकार आज की कहानी को उन्होंने नूतन कलात्मक परिपार्श्व दिया है, उसी प्रकार जीवन के बहु-विविध यथार्थ रंगों को भरने का दायित्व उन्हें निभाना है, हमारी उनसे यह माँग सहज एवं स्वाभाविक है। नरेश मेहता की कहानियों में जीवन का स्थूल पक्ष या विराटता का बोध चाहे न प्राप्त होता हो, पर उन्होंने निष्ठा, गरिमा और मर्यादा का संतुलित चित्रण किया है। अपने पात्रों को उन्होंने पूर्ण सहानुभूति दी है और उन्हें उचित संगति में प्रस्तुत किया है, जिसकी आधार-भूमि व्यापक है।

'अनबीता व्यतीत', 'तिष्यरक्षिता की डायरी', 'किसका बेटा', 'वह मर्द थी' तथा 'निशाऽऽजी' उनकी उपलब्धियाँ हैं।

धर्मवीर भारती नई पीढ़ी के उन महत्वपूर्ण कहानीकारों में हैं, जिन्होंने आधुनिक कहानी को उसके वास्तविक अर्थ की गरिमा दी है। 'चाँद और टूटे हुए लोग' नामक कहानी-संग्रह की 'धुआँ', 'मरीज़ नम्बर सात', 'हरिनाकुश का बेटा' तथा बाद की 'गुल की बन्नो', 'सावित्री नम्बर दो', 'यह मेरे लिए नहीं' तथा 'बन्द गली का आख़िरी मकान' आदि कहानियाँ कथ्य एवं कथन दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

भारती मूलतः कवि हैं और इसलिए उनकी कहानियों में भी काव्य-रस सहज-स्वाभाविक रूप से व्याप्त हो गया है। चित्रोपम प्रवाहपूर्ण भाषा, अनूठी व्यंजनाओं एवं प्रतीक विधानों के माध्यम से उन्होंने प्रगतिशील आधार-भूमि पर आधुनिक जीवन की करुणा, व्यथा एवं विसंगतियों का अनूठा चित्रण किया है। भारती की कहानियों में नैराश्य एवं कुंठा की सतही दीवारों की पृष्ठभूमि में जीवन जीने की अदम्य आकांक्षा, अपूर्व जिजीविषा, आस्था एवं संकल्प का संबल प्राप्त होता है। उनकी हाल की प्रकाशित कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' में उन्होंने मुख्य पात्र दीनू के माध्यम द्वारा एक विराट पृष्टभूमि को अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अत्यन्त कुशलतापूर्वक समेटा है और उसमें आज की समूची नई पीढ़ी की ट्रेजेडी, पीढ़ियों का संघर्ष, मनःस्थितियों की विषमताएँ एवं भाव-विचारों का सन्तुलन-असन्तुलन स्पष्टतया उभर कर सामने आया है। इस या दूसरी अन्य कहानियों की प्रमुख विशेषता उनका यथार्थ परिवेश और संवेदनशील आधार पर पात्रों को पूर्ण सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण से चित्रण है। इतना होने के बावजूद भारती उनमें कहीं 'इन्वाल्व' नहीं होते और पूर्ण तटस्थता एवं निर्वैयक्तिकता के साथ चित्रण करते हैं—यह एक बड़ी चीज़ है।

भारती की प्रारम्भिक कहानियों के कथानक स्थूल हैं, पर बाद की

कहानियों में वे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते गए हैं। उन्होंने अधिकांश रूप में समष्टिगत आधुनिकता का चित्रण किया है और वह आधुनिकता मात्र फ़ैशन या नारे के लिए नहीं है । उन्होंने भारतीय जीवन-पद्धति के परिवर्तनशील सन्दर्भों एवं नूतन आयामों को भली-भांति समझा है और उसकी मूल प्रवृत्तियों से प्रसूत आधुनिकता के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेशों का अत्यन्त कुशलता से अंकन किया है । सामयिक बोध, आधुनिक परिवेश एवं युगीन संचेतना के कारण भारती की कहानियों में सामाजिक दायित्व-बोध एवं निर्वाह की एक व्यापक पृष्ठभूमि प्राप्त होती है, जो अपने दूसरे समकालीनों से उन्हें भिन्न करती हैं । उनमें न राजेन्द्र यादव की भाँति शिल्पगत चमत्कार है, न कमलेश्वर की भाँति दूसरों की सफल कहानियों से प्रभावित होने की प्रवृत्ति है और न मोहन राकेश की भाँति सामाजिक दायित्व एवं तथाकथित नई क्राइसिस को नारेबाज़ी के स्तर पर चित्रित करने का 'दुराग्रह' है। उनकी अपनी शैली है जिस पर उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप अंकित है और यह उनकी प्रत्येक कहानी के साथ निरन्तर प्रौढ़ रूप में विकसित होती गई है ।

'मरीज़ नम्बर सात'', 'धुआँ', 'गुल की बन्नो', 'सावित्री नम्बर दो', 'यह मेरे लिए नहीं' आदि भारती की उपलब्धियाँ हैं ।

मोहन राकेश (जनवरी, १९२५) आज के प्रमुख कहानीकारों में से हैं। पिछले दशक अर्थात् १९५०-६० में वे 'नई' कहानी के प्रमुख वक्ताओं में रहे हैं। उनके अनुसार कहानी नए सन्दर्भों की खोज है, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि नए सन्दर्भों को खोजने का यह अर्थ नहीं कि अपने वस्तु-क्षेत्र से बाहर जाया जाए। जीवन के नए सन्दर्भ अपने वातावरण से दूर कहीं नहीं मिलेंगे, उस वातावरण में ही ढूँढ़े जा सकेंगे। अभावग्रस्त जीवन की विडम्बना केवल खाली पेट और ठिठुरते हुए शरीर के माध्यम से ही व्यक्त नहीं होती। प्यार केवल सम्पन्नता और विपन्नता के अन्तर से ही नहीं हारता। अनाचार का सम्बन्ध रिश्वत और बलात्कार के साथ ही नहीं है, और

विश्वास केवल उठी हुई बांहों के सहारे ही व्यक्त नहीं होता। हर रोज़ के जीवन में यह सब कुछ अनेकानेक सन्दर्भों में और कई-कई रंगों में सामने आता है। आज के जीवन ने उन रंगों में और भी विविधता ला दी है। बात उन विविध रंगों को पकड़ने और कहानी की सांकेतिक अन्विति में अभिव्यक्त करने की है। जीवन के नए सन्दर्भ कलात्मक अभिव्यक्ति के नए सन्दर्भ स्वतः ही प्रस्तुत कर देते हैं।

उनके इस कथन को पूरी 'नई' कहानी के सन्दर्भ में न देखकर उन्हीं की कहानियों के सन्दर्भ में देखना उचित होगा। उनकी कहानियों में जीवन की विविधता के अनेकानेक सन्दर्भ और रंग प्राप्त होते हैं और मोहन राकेश ने उन्हें नूतन शिल्प-प्रयोगों के माध्यम से प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। उनकी कहानियों की चर्चा करते समय एक रोचक तथ्य यह निकलता है कि इस युग के अधिकांश कहानीकारों की भाँति समष्टिगत चिन्तन से वे व्यष्टि-चिन्तन की ओर दिशोन्मुख हुए हैं और इधर के चार-पाँच वर्षों में एक 'जंगला' कहानी को छोड़कर उनकी लगभग सभी कहानियाँ आत्मपरक दृष्टिकोण को लेकर लिखी गई हैं और उनमें पूर्ण अन्तर्मुखी भावनाओं को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। मोहन राकेश जैसे प्रगतिशील सजग कहानीकार के लिए, जिनकी यात्रा 'मलवे का मालिक' जैसी सशक्त कहानी से प्रारम्भ हुई थी, यह कोई बहुत शुभ चिन्ह नहीं माना जा सकता कि वह यात्रा 'एक और ज़िन्दगी' की राहों से गुज़रते हुए 'ज़ख्म' और 'सेफ़्टीपिन' जैसी सँकरी गलियों से गुज़रे। प्रारम्भिक दौर की कहानियाँ समष्टिगत चिन्तन को लेकर लिखी गई हैं और उनमें प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थ की परम्परा का सफल निर्वाह मिलता है। 'मलवे का मालिक', 'मन्दी', 'फटा हुआ जूता', 'हक़ हलाल', 'परमात्मा का कुत्ता', 'बस स्टैण्ड की एक रात', 'मवाली', 'उलझते धागे', 'जंगला' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं जिनमें प्रगतिशील चेतना को स्थान मिला है। उनमें स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने का आग्रह भी है और प्रतीक-विधान

की आकुलता भी। पर ये कहानियाँ, 'जंगला' को छोड़कर, उस कहानीकार की छटपटाहट हैं, जो नया परिवेश और शिल्प पाने के लिए सतत प्रयत्नशील है और अन्ततोगत्वा 'एक और जिन्दगी' जैसी श्रेष्ठ कहानी तक पहुँच ही जाता है, जो कथ्य एवं कथन तथा दूसरी दृष्टियों से भी सर्वथा श्रेष्ठ कहानी है। 'मलवे का मालिक' में भारत-पाकिस्तान-विभाजन की कृत्रिमता और फलस्वरूप उत्पन्न नए मानव-मूल्यों का (सीमित अर्थों में ही सही) उन्होंने अपूर्व संवेदनशीलता से चित्रण किया है। 'मंदी' में सीज़न समाप्त होने के बाद पहाड़ों की आर्थिक विपन्नता एवं निम्न मध्यवर्गीय लोगों का यथार्थ चित्रण हुआ है, तो 'फटा आ जूता' में आज की नई पीढ़ी की विभ्रान्तता, घुटन, कुण्ठा एवं आर्थिक विषमताओं को सूक्ष्म प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मिली है। 'हक़ हलाल' में निम्न-वर्गीय परिवारों में नारी पर होने वाले सामाजिक अन्यायों का वर्णन है। ये सभी समस्यामूलक कहानियाँ हैं।

मोहन राकेश की कहानियों का दूसरा दौर वह है, जब लगता है कि उन्हें 'नए' की उपलब्धि हो गई और सूक्ष्म सांकेतिकता, व्यंजनात्मक प्रतिभा, संश्लिष्ट चरित्रों को उभारने के लिए प्रतीकों की योजना से उन्होंने अपने शिल्प को नया मँजाव प्रदान किया और वह अभिनव रूप में प्रस्तुत किए जाने के योग्य बन गया। लेकिन इसका मूल्य उन्होंने आत्मपरकता एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण अपनाकर चुकाया—यह बड़ी ट्रेजेडी है। 'मिस पाल', 'अपरिचित', 'सुहागिनें', 'एक और ज़िन्दगी', 'पाँचवे माले का फ़्लैट', 'फ़ौलाद का आकाश', 'ज़ख़्म', 'सेफ़्टीपिन' आदि इसी दौर की कहानियाँ हैं जिनमें आज की कहानी की सारी नूतन प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। 'मिस पाल' में एक भद्दी-मोटी स्त्री के मन की संवेदनशीलता और उसकी ट्रेजेडी को बहुत ही सशक्त ढंग से उभारा गया है। 'सुहागिनें' तथा 'एक और ज़िन्दगी' में आधुनिक जीवन में पति-पत्नी के सम्बन्धों की नवीन समस्याएँ सूक्ष्मता से चित्रित हुई हैं। मोहन राकेश का विश्वास है कि जिस प्रकार इकाई के रूप में आदमी का

अपना एक अलग अस्तित्व है, उसी अर्थ में लेखक और कलाकार का भी। पर दूसरी इकाइयों से स्वतन्त्र और निरपेक्ष वह कहीं पर भी नहीं है। वास्तव में उनके पात्रों का विकास इसी दृष्टिकोण के अनुरूप हुआ है। सामाजिक सन्दर्भों से लिए गए पात्र अपने विराट मानवीय चेतना से अलग हटकर धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होते गए हैं और अकेलेपन तथा अजनबीपन की चादर ओढ़कर घुटन एवं कुंठाग्रस्त स्थितियों में छटपटाने के लिए बाध्य किए जाते रहे हैं।

'मलवे का मालिक', 'मिस पाल', 'परमात्मा का कुत्ता' और 'एक और ज़िन्दगी' मोहन राकेश की अब तक लिखी गई कहानियों की उपलब्धियाँ हैं।

कमलेश्वर (६ जनवरी, १९३२) ने मुख्यतया मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। यद्यपि मोहन राकेश की भाँति उनकी कहानी-कला का विकास भी समष्टिगत चिंतन से व्यष्टि-चिन्तन की दिशा में हुआ है, पर कमलेश्वर के पास एक ऐसी यथार्थ जीवन-दृष्टि थी जिसे उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। इसीलिए गत पाँच वर्षों की उनकी कहानियाँ उतनी घोर आत्म-परकता और वैयक्तिक चेतना को लिए हुए नहीं हैं जितनी कि मोहन राकेश की कहानियाँ। इसका कारण कदाचित् यही है कि कमलेश्वर प्रगतिशील कहानीकार हैं और प्रारम्भ में प्रगतिशील आन्दोलन से भी घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित रहे। अपने पहले कहानी-संग्रह 'राजा निरबंसिया' की भूमिका में कमलेश्वर ने लिखा है कि कथानक, शैली और शिल्प को चुनने की अभिरुचि में उनमें (नए कहानीकारों में) चाहे कितना भी वैभिन्नय हो (और वह है), किन्तु मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नव-निर्माण की जितनी उत्कट प्यास इस पीढ़ी के कहानीकारों में है, वह पिछले दौर में नहीं थी। आज के हर कहानीकार में कुछ कहने के लिए एक अजब-सी अकुलाहट और बेबसी है, जो निश्चय ही इस संक्रमण-काल की देन

है, जिसने एक ओर यदि हमारी संवेद्य शक्तियों पर दबाव डाला है, तो दूसरी ओर हमारी चेतना को भी जागरित किया है। इसलिए हम देखते हैं कि आज की कहानियाँ कल्पना के पंखों पर नहीं उड़तीं, बल्कि दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक जिन्दगी से उनका सीधा सम्बन्ध है। धरती के हर कण-कण के प्रति लगाव, हर मोड़ के प्रति जिज्ञासु भाव और हर गड्ढे को पाट देने की सहानुभूतिपूर्ण विह्वलता उनमें है। कमलेश्वर की कहानियाँ इसे पूरी ईमानदारी से चरितार्थ करती हैं।

कमलेश्वर की कहानियों में विशदता है, विराटता का बोध है, जीवन के विविध पक्षों का संस्पर्श कर यथार्थ अभिव्यक्ति देने का आग्रह है और आधुनिक भाव-बोध को स्पष्ट करने की समर्थता है। 'पानी की तसवीर', 'उड़ती हुई धूल,' 'नीली झील', 'देवा की माँ,' 'कस्बे का आदमी 'खोयी हुई दिशाएँ', 'दिल्ली में एक मौत', 'जार्ज पंचम की नाक', 'एक रुकी हुई ज़िन्दगी', 'तलाश', 'ऊपर उठता हुआ मकान' तथा 'माँस का दरिया' आदि कहानियाँ मेरे उपर्युक्त कथन की सत्यता अपने आप प्रमाणित करती हैं। दिल्ली जाने के पश्चात् उनकी कहानियों में एक नई दिशा दिखाई देती है और तथाकथित आधुनिक जीवन-परिवेश की कृत्रिमता एवं खोखलेपन का पर्दा फ़ाश करने में उनकी यथार्थ अन्तर्दृष्टि ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। आज की आधुनिकता के बारीक-से-बारीक रेशों को परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भों में ही अभिव्यक्त कर उन्होंने समकालीन युग-बोध के विभिन्न आयामों को स्पष्ट करने में अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने की भावना पूर्ण की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'मेरा जीवन इतिहास सापेक्ष है। उसके तमाम अन्तर्द्वंद्वों का साक्षी है—व्यक्ति और उसकी सामाजिकता—दोनों का। जहाँ सामाजिकता की क्रूरता व्यक्ति के यथार्थ को दबोचती है या जहाँ व्यक्ति के अहं की क्रूरता सामाजिकता के यथार्थ को नकारती है, वहाँ आज की कहानी यानी नई कहानी नहीं हो सकती—

वहाँ आग्रहमूलक लेखन ही हो सकता है।' ऐसी धारणा से असहमत होने का प्रश्न नहीं उठता और जहाँ तक कमलेश्वर का प्रश्न है, एक लम्बी यात्रा तक उन्होंने इस धारणा को अपनी कहानियों में यथार्थ अभिव्यक्ति भी दी है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि अब उनके लिए जनवादी भावनाओं या प्रगतिशील दृष्टिकोण उतना महत्वपूर्ण नहीं लगता, जितना कि व्यक्ति या उसका अस्तित्व। मुझे ऐसा लगता है कि कामू, काफ़्का या सार्त्र ने जिस प्रकार आधुनिक काल में हिन्दी कहानीकारों को प्रभावित किया है, कमलेश्वर भी उससे अपने को बचा नहीं पाए हैं और व्यक्ति का अहं या निजत्व तथा आत्मपरक दृष्टिकोण के प्रति उनका सर्जनशील मन आग्रही हो गया है। 'तलाश', 'दु:खों के रास्ते', 'माँस का दरिया' या 'ऊपर उठता हुआ मकान' इस विश्वास को पुष्ट करने वाली कहानियाँ हैं।

'नीली झील', 'कस्बे का आदमी', 'खोयी हुई दिशाएँ', 'ऊपर उठता हुआ मकान', तथा 'माँस का दरिया' उनकी अब तक की उपलब्धियाँ हैं।

राजेन्द्र यादव (१८ अगस्त, १९२९) कलावादी हैं जिन पर प्रगतिशीलता या सामाजिक यथार्थ का मुखौटा लगा रहता है। यह मुखौटा इतना महीन होता है कि ज़रा-से प्रयास से उसकी परतें उधेड़ी जा सकती हैं और फिर उनकी कहानियों की वास्तविक रंगत सामने आ जाती है, अर्थात् उनकी व्यक्तिमूलक चेतना स्पष्टतया उभर आती है। राजेन्द्र यादव अपने दशक के कदाचित् एक मात्र ऐसे लेखक हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य अपनी प्रत्येक कहानी से अपने सहवर्गियों को नहीं, पाठकों को चौंकाना ही रहा है। इसके लिए चौंकाने वाले कथानक, विस्मयपूर्ण लगने वाले शीर्षक और नए-से-नए शिल्पविधान आदि के अन्वेषण के प्रति ही उनकी सारी प्रयत्नशीलता सीमित रही है और, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, वे यथार्थता या जीवन-संवेदनाओं का आभास देने का प्रयत्न भर करते हैं—'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', 'लंच

टाइम', 'पास-फेल' तथा 'भविष्यवक्ता' आदि इनी-गिनी कहानियाँ अपवाद हो सकती हैं, पर एक बहुत बड़ी संख्या उनकी कहानियों की ऐसी है जिनमें आत्मनिष्ठता और व्यक्ति-मूलक भावधारा को ही अभिव्यक्ति मिल सकी है।

इस सम्बन्ध में स्वयं राजेन्द्र यादव ने एक स्थान पर लिखा है कि अजीब मजबूरी है, अपने से जुड़े इन सूत्रों को तोड़ देता हूँ, तो अपने लिए ही अपरिचित हो उठता हूँ, उन्हीं में बैठ रहता हूँ, तो अपने कुछ न होने का एहसास काटता है। हम कुछ न हुए, सन्दर्भ और आसंग ही सब कुछ हो गए। इन आसंगों और सन्दर्भों में घुटने और इन्हें तोड़कर अपने को ही न पहचान पाने की स्थिति से घबराकर नए सन्दर्भ और और आसंग बनाने, उन्हें पुरानों से जोड़कर परिचित करने की प्रक्रिया का सिलसिला शुरू होता है, दूर खड़े होकर अपने को पहचानने, न पहचानने कि दुविधा तंग करती है। मुझे लगता है, मेरा लिखना कुछ इसी खींच-तान का प्रतिफल रह गया है। अपने को अपने आपसे नोचकर 'नए', अनजाने, अनसोचे पात्रों, परिस्थितियों, समस्याओं, स्थितियों में फेंक-फैला देना, स्वयं अपने आप से अपरिचित हो उठना और फिर अपने जैसे उस 'परिचित' व्यक्ति की तलाश में भटकना और हमेशा यह महसूस करना कि भीड़ में वह मुझे छू-छूकर निकल जाता है।

राजेन्द्र यादव के इस स्पष्ट कथन के पश्चात् कुछ भी विवाद की गुंजायश नहीं रह जाती। यह कथन अपनी कहानी स्वयं ही कहता है। वैसे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि राजेन्द्र यादव के पास प्रतिभा है, यथार्थ को पहचानने और जीवन-परिवेश को समझने की क्षमता है, पर कोई उन्हें यह जाने क्यों नहीं समझाता कि चौंका देना मात्र ही साहित्यिक उपलब्धि नहीं होती। स्वस्थ सामाजिक दृष्टि, यथार्थपरक जीवन, स्थितियों को उभारने की प्रयत्नशीलता भी बड़ी चीज़ होती है, जिस पर एक लेखक का

व्यक्तित्व निर्मित होता है। उनके पाठक 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', 'पास-फेल', तथा 'लंच टाइम' के राजेन्द्र यादव की तलाश में अब भी हैं और जब अपने प्रिय कथाकार को सोद्देश्यता से भटक कर 'आधुनिकता' के ग़लत चक्करों में पड़कर 'एक कटी हुई कहानी' तथा 'भविष्य के आसपास मंडराता अतीत' जैसी घोर प्रतिक्रियावादी कहानी लिखते पाता है, तो निराश ही होता है। उनकी कहानियों में आधुनिकता के सभी साज़-सामान होते हैं, पर एक जीवन ही नहीं होता। उस जीवन को यदि राजेन्द्र यादव प्राप्त कर लें, तो यह एक बड़ी चीज़ होगी।

'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' और 'टूटना' सीमित अर्थों में उनकी उपलब्धियाँ हैं।

अमरकान्त प्रगतिशील कहानीकार हैं। इस दशक के सभी कहानीकारों में वे एकमात्र ऐसे कहानीकार हैं जो प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। उनमें वही मानवीय संवेदनशीलता है, जीवन का यथार्थ है और आस्था एवं संकल्प है। उनके पात्रों में अपूर्व जिजीविषा है और सबसे बड़ी बात यह कि एक ऐसा प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है जो जीवन से जूझने की एक नई प्रेरणा देता है और विषमताओं से ऊपर उठने का आत्मविश्वास भरता है। उनकी कोई कहानी उठा ली जाए—'दोपहर का भोजन', 'डिप्टी कलक्टरी', 'ज़िन्दगी और जोंक', 'इन्टरव्यू', 'केले, पैसे और मूंगफली', 'गले की जंजीर', 'नौकर', 'एक असमर्थ हिलता हाथ', देश के लोग', 'खलनायक', 'लाट', 'लड़की और आदर्श' आदि—सभी में यही भावना परिलक्षित होती है। इन सबका मूलाधार मध्य वर्ग है, जिसमें घुन लग चुका है और लोग प्रत्येक स्थिति में जीवन जीने का बहाना भर कर रहे हैं। उनके जीवन में असंख्य विकृतियाँ है, विपन्नता का अथाह सागर है और कुण्ठा, निराशा तथा विशृंखलता है, जिनकी कठोर यथार्थता में उन्हें जीवन जीना पड़ता है। इस व्यापक यथार्थता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अमरकान्त

ने पहचाना है और उसके बारीक-से-बारीक रेशे को अत्यन्त कुशलता से अभिव्यक्त किया है।

'दोपहर का भोजन' में निर्धन घर में दोपहर को खाने के समय जब लोग इकट्ठे होते हैं, उस स्थिति का बहुत ही करुण एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। सिद्धेश्वरी का पति गाय की तरह जुगाली करते हुए धीरे-धीरे खाता है। सिद्धेश्वरी की मनःस्थिति एक मथकर रख जाने वाली दयनीयता का संकेत करती है और वह दोपहर का भोजन उसी स्थिति के असंख्य भारतीय परिवारों में होने वाले भोजन का प्रतीक बन जाता है, जिसमें यथार्थ के गहरे रंग हैं, व्यंग के पैने बाण है और मन-मस्तिष्क को चीरकर रख देने की क्षमता है। 'ज़िन्दगी और जोंक' में एक नौकर का चित्रण है, जो मरना नहीं चाहता, इस लिए जोंक की भाँति ज़िन्दगी से चिपटा रहता है। लेकिन लगता है कि ज़िन्दगी स्वयं जोंक सरीखी उससे चिपटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अन्तिम बूंद पी गई। यह एक प्रश्नचिन्ह उपस्थित करती है। इस निर्धनता और विपन्नता एवं तथाकथित आधुनिक समाज में जीवन का मूल्य आख़िर क्या है ? आदमी जोंक है या ज़िन्दगी—कौन किसका ख़ून चूस रहा है। इस कारुण स्थिति को अमरकान्त ने बड़े प्रभावशाली ढंग से उजागर किया है। 'इन्टरव्यू' में उन लोगों पर तीख़ा व्यंग्य है, जो नौकरी देने को व्यवसाय बना लेते हैं और देश के करोड़ों नवयुवकों के साथ मज़ाक करते हैं। इसमें आज की नई पीढ़ी की विभ्रान्तता, कुंठा एवं निराशा की भावना यथार्थ परिवेश में बड़ी सजीवता के साथ उभरी है। इसी प्रकार 'एक असमर्थ हिलता हाथ' में अंध-विश्वासों, रूढ़ियों, जाति-प्रथा एवं प्रेम की आधुनिक विसंगतियों पर मार्मिक व्यंग्य हैं।

अमरकान्त की कहानियों में कोई शिल्प-प्रयोग नहीं है या राजेन्द्र यादव की भाँति कलाबाज़ियों का चक्कर नहीं है। वस्तुतः उनकी कहानियों में जीवन ही इतनी सशक्तता से बोलता है कि उन्हें चौंका

देने की प्रवृत्ति का आश्रय नहीं लेना पड़ता। उनका शिल्प सीधा-सादा और सहज है। उनकी दृष्टि सीधे यथार्थ को पकड़कर सत्यान्वेषण के प्रति रहती है और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

अमरकान्त अपने आप में आज की हिन्दी कहानी की महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द्र के बाद परिवर्तित सन्दर्भों को प्रेमचन्द जैसी मानवीय संवेदनशीलता मुखरित करने का प्रयास किया है। 'ज़िन्दगी और जोंक', 'हत्यारे', 'दोपहर का भोजन', 'छिपकली', 'एक असमर्थ हिलता हाथ', 'डिप्टी कलक्टरी' आदि उनकी उपलब्धियाँ हैं।

निर्मल वर्मा (३ अप्रैल, १९२९) उन कथाकारों में हैं जिनके लिए जीवन का अर्थ विदेश-प्रवास, शराब और लड़की है। अधिकांश कहानियाँ इसी भाव को व्यक्त करती है, जिनमें कोई जीवन नहीं है, कोई यथार्थ नहीं हैं, केवल भावुकता हैं, वोदका, चीयान्ती आदि विदेशी शराबें हैं, प्राग शहर है, पब हैं पहाड़ हैं, गिरती हुई बर्फ़ है, सरसराती हुई हवा है और नीली आँखों तथा भूरे बालों वाली कोई टूरिस्ट या विदेशी महिला है। इन आधुनिक प्रसाधनों को जुटाकर वे कहानी के रेशे संगुफित करते हैं, जो प्रतिक्रियावादी तत्वों के ब्यौरे मात्र बनकर रह जाते हैं। 'दहलीज', 'अन्तर', 'पिता का प्रेमी', 'पिछली गर्मियों में', 'पहाड़', 'जलती झाड़ी' तथा 'एक शुरूआत' आदि कहानियाँ पढ़कर इस आधुनिकता से वितृष्णा होती है और आज की तथाकथित आधुनिकता के प्रति अपनी कला एवं सर्जनशीलता का ह्रास कर वितृष्णा उत्पन्न करना ही यदि निर्मल वर्मा का उद्देश्य हैं, तब उनकी सराहना की जानी चाहिए, पर दुर्भाग्य से बात ऐसी नहीं है। मुझे तो हँसी आती है जब अपने को प्रगतिशील और मार्क्सवादी कहने वाले एक अलोचक (जिन्हें कमलेश्वर ने बहुत ठीक गज़टेड आलोचक की संज्ञा दी है!) निर्मल वर्मा की प्रतिक्रियावादी भावनाओं के विष को शंकर की भाँति पीकर उन्हें प्रगतिशील कहानीकार के रूप

में मान्यता दिलाने की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं ।

निर्मल वर्मा की 'पिछली गर्मियों में', 'माया दर्पण', 'लवर्स', 'लन्दन की एक रात' तथा 'कुत्ते की मौत' आदि कुछ ही कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें आधुनिक जीवन की ट्रेजेडी थोड़े यथार्थ ढंग से अभिव्यक्त हुई है । नहीं तो जीवन से पलायन, घोर आत्मपरकता, कुंठा, निराशा, और घुटन की शराब से शांत करने की झूठी ललक से हर कहानी भरी है । उन कहानीकारों के सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जा सकता है जो अपनी प्रेरणा के स्रोत्र विदेशों में खोजते हैं, भारतीय जीवन-पद्धति जिनके लिए नगण्य एवं उपेक्षणीय हैं, तथा जिन्हें अपने को 'भारतीय' कहने में भी संकोच होता है, क्योंकि यहाँ के लोग 'प्राग-वासियों' की भाँति आधुनिक नहीं हैं ।

'माया दर्पण' तथा 'लन्दन की एक रात' उनकी उपलब्धियाँ हैं ।

मार्कण्डेय मुख्यतया आंचलिक कहानीकार हैं और उन्होंने अपनी कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय ग्रामों में हुए परिवर्तनों को यथार्थता से उजागर करने की चेष्टा की है । वे प्रगतिशील कहानीकार हैं और ग्रामीण भावभूमि की उन्हें खूब पहचान है । 'हंसा जाई अकेला', 'गुलरा के बाबा', 'लंगड़े चाचा', 'मिरदंगिया', 'बोधन तिवारी', 'गुसाईं', 'फूलमतिया', 'घुन', 'आदर्शों का नायक', 'छोटे महाराज, आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं, जिनमें उनकी समाजवादी भावना प्रतिफलित हुई है । उनकी विचारधारा का मूलाधार मार्क्सवाद है, पर वह यशपाल की भाँति स्थूल न होकर अत्यन्त सूक्ष्म है और उनका उद्देश्य प्रचार न होकर भारतीय जीवन-पद्धितियों से उसका सामंजस्य स्थापित कर प्रगतिशील दृष्टिकोण की स्थापना है । वर्ग-वैषम्य, शोषण, असमानता, रुढ़ियों एवं अन्धविश्वासों पर उन्होंने अपनी कहानियों में कठोर प्रहार किए हैं और उनकी अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए नवीन परिवर्तनों की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है । इन

कहानियों में मानवीय संवेदनशीलता है, यथार्थ चित्रण है और सामाजिक दायित्व का निर्वाह है, जिसमें वे पूर्णतया सफल रहें हैं।

पर मार्कण्डेय ने नगर-जीवन अथवा तथाकथित आधुनिक जीवन-परिवेश को लेकर जो कहानियाँ लिखी हैं, वे उनकी असफल कहानियाँ है। वास्तव में यह क्षेत्र मार्कण्डेय का नहीं है और ये कहानियाँ बड़ी कृत्रिम एवं अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं। उनमें यथार्थ के रंग भरने में भी वे समर्थ नहीं हो सके हैं। हो सकता हैं, नगर और ग्राम-जीवन, दोनों पर ही समान रूप से अपना अधिकार जमाने के लिए अथवा मात्र फ़ैशन के प्रवाह में आकर उन्होंने ये कहानियाँ लिखी हों, पर इनमें उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण कोसों पीछे रह गया है। मार्कण्डेय में कहानी कहने का ढंग बहुत रोचक है और अपनी कहानियों के कथानक उन्होंने बड़ी कुशलता से संगुफित किए हैं। उनके पात्र यथार्थ जीवन से लिए गए हैं, पर अधिकांशतः वे जातीय हैं और किन्हीं-न-किन्हीं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका चरित्र-चित्रण उन्हीं के यथार्थ परिवेश में किया गया है, इसलिए वे सजीव एवं आस्थावान लगते हैं और ग्रामीण अंचल अपनी पूरी यथार्थता एवं स्वाभाविकता के साथ उभरता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

'हंसा जाई अकेला', 'माही', 'आदर्शों का नायक' तथा 'घुन' उनकी अब तक की लिखी कहानियों की उपलब्धियाँ हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु (फरवरी, १९२१) भी आंचलिक कहानीकार के रूप में ही ख्याति-प्राप्त हैं। हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में रेणु का आविर्भाव एक घूमकेतु की भाँति 'मैला आँचल' के प्रकाशन के पश्चात् हुआ था और उस समय लगभग सभी आलोचकों को रेणु अपूर्व संभावनाओं वाले लेखक लगे थे। उसके बाद ही उनका 'ठुमरी' कहानी संग्रह आया था, जिसकी कुछ कहानियाँ तो निश्चय ही एक नई ज़मीन तोड़ने वाली थीं और उनका उसी रूप में स्वागत भी हुआ।

'तीसरी क़सम', 'रसप्रिया', 'तीर्थोदक', 'लाल पान की बेगम' तथा 'ठेस' आदि कहानियों को पढ़कर उन गाँवों की मिट्टी की गंध तक का अनुभव होता था—उनमें इतनी यथार्थता है। अपने अंचल की लोक-संस्कृति, भाषा, आचार-व्यवहार, स्थानीय जीवन-पद्धति तथा मुहावरे आदि को रेणु ने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से परखा है और उसे व्यापक सार्वजनीनता प्रदान करते हुए अपूर्व मानवीय संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने इन कहानियों में सर्वथा एक नई शैली का प्रयोग किया है—फ़ोटोग्रैफ़िक शैली का, जिसमें कहानीकार एक कैमरामैन की भाँति एक विशेष अंचल की भिन्न-भिन्न कोणों से तसवीरें उतारता हुआ चलता है। ये तसवीरें रंगीन हैं—वहाँ के हर रंग उनमें अंकित हो गए हैं, इसीलिए वे यथार्थ प्रतीत होते हैं, और बड़ी स्वाभाविकता एवं सहजता से पाठकों से 'प्रत्यक्ष' रूप से बोलते प्रतीत होते हैं। पर रेणु के पास ध्वनि-यंत्र है, जिसके माध्यम से उन्होंने इस अंचल के गायों की चलने की आवाज़, पेड़-पत्तों के हिलने की ध्वनि, नाक सुड़कने और छींकने की आवाज़ें, हसुलियों और झांझनों के बजने, कंगनों की खनक तक मूर्त कर दी है। इस दृष्टि से रेणु बहुत ही सफल रहे हैं और उन्होंने प्रेमचन्द के उपरान्त पहली बार हिन्दी कहानियों में भारतीय ग्रामों को वाणी दी है।

लेकिन जब कुछ लोग प्रेमचन्द और रेणु की तुलना करते हुए रेणु को प्रेमचन्द के समक्ष सिद्ध करने की सायास चेष्टा करने लगते हैं, तो 'मुग्ध' हुए बिना नहीं रहा जाता। प्रेमचन्द जैसी मानवीय संवेदनाशीलता, सामाजिक यथार्थ को उजागर करने की समर्थता और मानव-मूल्यों एवं सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना को आत्मसात कर पूर्ण ईमानदारी से दिशोन्मुख होने की दिशा में रेणु को अभी एक लम्बी यात्रा तय करनी है। जब कि उनकी यात्रा के सम्बन्ध में दस वर्ष भी व्यतीत नहीं हुए, उनकी कला ने गम्भीर प्रश्न चिन्ह उपस्थित कर दिए हैं। रेणु की इधर की कहानियों में वही पिष्टपेषण मिलता है और जिस

मानवीय संवेदनाशीलता के कारण उन्हें प्रारम्भ में सफलता मिली थी, उसे अब मैनरिज़्म बनाकर प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। उपन्यासों के क्षेत्र में यदि 'जुलूस' या 'दीर्घतपा' उनकी कला का ह्रास दर्शाता है, तो कहानियों के क्षेत्र में इधर की लिखी गई उनकी सभी कहानियाँ उसी पथ का अनुगमन करती प्रतीत होती हैं। अतः रेणु को प्रेमचन्द के समकक्ष सिद्ध करने की चेष्टा समुद्र न देखे हुए व्यक्ति द्वारा तालाब को ही समुद्र मानकर विश्वास कर लेने के समान ही होगा। वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं की रेणु के पास शिल्प है, जीवन-दृष्टि है, रस उत्पन्न करने और यथार्थ को सशक्त अभिव्यक्त देने की समर्थता है, पर जाने क्यों 'ठुमरी' के प्रकाशन के पश्चात् उन्हें अपनी इस यथार्थता के प्रति विश्वास नहीं रहा और वे भी अब फ़ैसन और फ़ॉर्मूले के चक्कर में पड़ गए हैं और 'आधुनिकता' को चित्रित करने के लिए आकुल हैं ('टेबुल' कहानी प्रमाण है)। पर इस प्रक्रिया में उनकी कला और समर्थता निरन्तर क्षीण हो रही है, यह भी सत्य है। रेणु यह क्यों भूल जाते हैं कि 'ठुमरी' की कहानियों में एक विशेष अंचल का चित्रण करते समय जीवन के परिवतनों के जिन बारीक-से-बारीक रेशों को उन्होंने यथार्थ ढंग से मुखरित किया है, यह आधुनिकता नहीं तो और क्या है। आधुनिकता पोश होटलों, नगरों, रेडियोग्राम, ग्लासटैंक, स्लीवलेस ब्लॉउज़ों और लग्जरी कारों आदि तक ही सीमित नहीं होती। यह कुछ बड़े नगरों या पश्चिमी देशों की आधुनिकता हो सकती है, भारत की नहीं। भारत की आधुनिकता तो गाँवों में, नगरों के निम्न और मध्यवर्ग लोगों में ही फैल रही है। जिस प्रकार धीरे-धीरे धार्मिक विश्वास खण्डित हो रहे हैं, रूढ़ियाँ टूट रही हैं और परम्पराएँ जर्जरित हो रही हैं तथा पुरातनत्व का कोढ़ जिस प्रकार गल रहा है, वह आधुनिकता नहीं तो और क्या है और यह एक संतोष की बात थी कि प्रारम्भ में रेणु ने इस आधुनिकता को पहचान लिया था और अपनी सारी समर्थता एवं कलात्मक कौशल से उसे चित्रित करने का सफलतापूर्वक प्रयत्न किया

था। जब उन्हें यह भ्रम हो गया कि जीवन का यथार्थ, मानवीय संवेदनशीलता, मानव-मूल्यों एवं युगीन सत्य का चित्रण महत्वपूर्ण नहीं है तो सारी विश्रृंखलता यहीं से प्रारम्भ हो जाती है।

'तीसरी क़सम', 'तीर्थोदक', 'रस प्रिया', 'लाल पान की बेग़म, और 'तीन बिंदियाँ' उनकी उपलब्धियाँ हैं।

भीष्म साहनी (१९१५) प्रगतिशील कहानीकार हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में मूलतः मध्य वर्ग को लिया है और उसकी विभिन्न समस्याओं को यथार्थ ढंग से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस मध्य वर्ग की कुंठा, पीड़ा, घुटन, बिखराव, रुढ़ियाँ एवं झूठी मान्यताएँ आदि उनकी विभिन्न कहानियों में बड़े सशक्त ढंग से अभिव्यक्ति पा सकी हैं। उनकी कहानी-काल का मूलाधार समष्टिगत चिन्तन पर ही आधारित है। अपनी कहानियों में उन्होंने पूरे भारतीय समाज को उसकी समस्त अच्छाई-बुराई के साथ ही ग्रहण किया है, निरे व्यक्ति को नहीं। जो व्यक्ति है भी वह सामाजिक इकाई है, अपने आप में कोई संस्था नहीं, इसलिए न तो वह किसी के लिए अजनबी है और न अपने अस्तित्व एवं निजत्व के लिए दिन-रात चिन्तित। लगभग सभी कहानियों में मध्य-वर्गीय जीवन-मूल्यों पर प्रहार किया गया है और पैने-तीखे व्यंग्य के माध्यम से उसकी कृत्रिमता एवं खोखलेपन को उभारा गया है। वे प्रेमचन्द और यशपाल दोनों से ही अत्यधिक प्रभावित हैं, इसलिए उनकी कहानियों में वर्णनात्मकता अधिक मिलती है। आज की कहानी में हुए परिवर्तनों, विशेषतया सूक्ष्म व्यंजनात्मकता, प्रतीक विधान एवं संकेतात्मकता आदि, की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया हैं, इसीलिए उनकी कहानियाँ स्थूल हैं, सूक्ष्म नहीं। 'चीफ़ की दावत', 'पहला पाठ', 'बाप-बेटा', 'समाधि भाई रामसिंह', 'भटकती हुई राख़' और 'सफ़र की रात' आदि सभी कहानियाँ इसी तथ्य को स्पष्ट करती है कि भीष्म साहनी वस्तुवादी अधिक हैं, कलावादी कम। उनकी कहानियों में शिल्प की यह उदासीनता प्रभावशीलता को कम नहीं

करती, वरन् उसकी अभिवृद्धि ही करती हैं, क्योंकि जिस सोद्देश्यता एवं सामाजिक यथार्थ को वे उभारना चाहते हैं, वह बहुत ही सहज एवं स्वाभाविक रूप में पाठकों तक पहुँच जाता है और सीधे मन और मस्तिष्क पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाने में समर्थ होता है।

'चीफ़ की दावत', 'सिर का सदका' तथा 'पहला पाठ' उनकी उपलब्धियाँ हैं।

उषा प्रियंवदा आज की कहानी की प्रमुख कहानी-लेखिकाओं में हैं और आज की पीढ़ी के दूसरे अनेक कहानीकारों की भाँति समष्टिगत चिन्तन से व्यष्टि-चिन्तन की ओर उनकी भावधारा भी मुड़ी है। आज के नारी-जीवन में स्वातंत्र्योत्तर काल के उपरांत जो परिवर्तन आए हैं और जिन नए मूल्यों को आत्मसात् करने और पुराने मूल्यों को अस्वीकारने के लिए आज की नारी बिना सोचे-समझे अपनाने के लिए आकुल रही है उसके क्या-क्या परिणाम हुए हैं, उषा प्रियंवदा की कहानियों में यह अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ मुखरित हुआ है। इसके अतिरिक्त आधुनिक मध्य-वर्गीय परिवारों की क्या स्थिति है, उनकी मान्यताएँ किस सीमा तक परिवर्तित हो रही हैं और मूल्य-मर्यादा किन विषमताओं एवं विकृतियों के कारण खण्डित हो रही हैं और उस परिवेश में तथाकथित आधुनिक नारी अपनी उच्च शिक्षा एवं अस्तित्व-रक्षा की भावना से ओत-प्रोत किस प्रकार मिसफ़िट है—उषा प्रियंवदा ने अपनी कोई कहानियों में इसका बड़ा ही यथार्थ एवं सजीव चित्रण किया है। उनकी तीसरे ढंग की कहानियाँ वे हैं जिनमें पति पत्नी के सम्बन्धों की आधुनिक परिवर्तित सन्दर्भों में व्याख्या है। चौथे ढंग की कहानियाँ वे हैं जो उन्होंने विदेश जाने के पश्चात् लिखी हैं, जिनमें आत्मपरक दृष्टिकोण का विकास परिलक्षित होता है। 'वापसी', खुले हुए दरवाज़े', 'झूठा दर्पण', 'पूर्ति', 'दो अंधेरे', 'छाँह', 'दृष्टिदोष', 'कोई नहीं', 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल', 'मछलियाँ' आदि उनकी चर्चित कहानियाँ हैं, जो उपयुक्त सन्दर्भों में देखी जा सकती हैं। उषा प्रियंबदा की कहानियों में यद्यपि आधुनिक

शिल्प-विधान प्राप्त होता है, पर वे कला को उतना महत्व नहीं देतीं, जितना जीवन के यथार्थ को। उन्होंने समकालीन युगबोध को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा की है और उसके यथार्थ आयामों को सत्य अभिव्यक्ति देने में ही उनकी प्रतिबद्धता सम्मिलित है। इसलिए उनकी कहानियाँ आज के पारिवारिक जीवन के उन उभरे—दबे कोनों को उभारती हैं, जो धीरे-धीरे गल रहा है और किसी-न-किसी प्रकार नई मान्यताएँ एवं मूल्य जिनका स्थान ले रहे हैं।

'वापसी', 'कोई नहीं', 'खुले हुए दरवाज़े' तथा 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' उनकी उपलब्धियाँ हैं।

मन्नू भण्डारी की कहानियाँ मूलतः वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित हैं, पर अपने पति राजेन्द्र यादव की अपेक्षा उनकी कहानियाँ जीवन के अधिक निकट प्रतीत होती हैं और अधिक सोद्देश्यता लिए हुए हैं। उनकी कहानियाँ पारिवारिक जीवन, पति-पत्नी के सम्बन्धों एवं आधुनिक प्रेम तक सीमित हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में हुए नारी-जीवन में परिवर्तनों को और आज की तथाकथित आधुनिकता पर उन्होंने व्यंग्यपूर्ण प्रहार किए हैं जिन्हें नारियाँ बिना किसी दूरदर्शिता के अपने जीवन से सामंजस्य बिठाने की असफल चेष्टा कर रही हैं। 'अभिनेता', 'शमशान', 'ईशा के घर इन्सान', 'कील और कसक', 'यही सच है', 'अनथाही गहराइयाँ', 'आकाश के आईने में', तीसरा आदमी' तथा 'घुटन' आदि कहानियाँ ऐसी ही हैं जिनमें आधुनिक नारी के विभिन्न परिपार्श्व स्पष्ट हुए है और नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं के मूल कारणों को यथार्थता से चित्रित किया गया है। कला के प्रति मन्नू भण्डारी का भी विशेष आग्रह है,पर वह कहानियों पर बहुत हावी नहीं होने पाया है और कहानियों की सहजता एवं संप्रेषणीयता बनी रहती है। उनकी कहानियों में खलने वाली बात मैनरिज़्म है, जिसके प्रति मन्नू भण्डारी का विशेष आग्रह रहता है। उनके पात्र बिना किसी एक्शन के कुछ कह ही नहीं सकते।

या तो कुछ कहने के पूर्व वे बालों को झटका देंगे, साड़ी के पल्लू के छल्ले बनाएँगे, टाई की नॉट ढीली या तंग करेंगे या और न सही बार-बार चाय या कॉफ़ी में चम्मच डालकर ही हिलाएँगे। कहीं-कहीं तो ये क्रिया-कलाप उस समय पात्रों की किसी विशेष मन:स्थिति को स्पष्ट करने में सफल होते हैं, पर प्राय: वे निरर्थक ही प्रतीत होते हैं और कोई प्रभाव डालने में असमर्थ रहते हैं।

'कील और कसक' तथा 'ईसा के घर इंसान' उनकी उपलब्धियाँ हैं।

सुरेश सिनहा (१८ अगस्त, १९४०) प्रमुखत: प्रगतिशील कथाकार हैं। आज की जिस विषम संक्रान्ति में हम जी रहे हैं, युगीन चेतना जिस प्रकार नई दिशाएँ ग्रहण कर रही है, निर्माण एवं विकास के खोखले स्वरों के पीछे जिस प्रकार आर्थिक शोषण हो रहा है, फलस्वरूप निम्न-मध्य वर्ग में जो कटुता, रिक्तता और दूरियाँ व्याप्त हो रही हैं, उन्हें अपनी कहानियों में यथार्थ ढंग से प्रस्तुत करने में सुरेश सिनहा को बड़ी सफलता मिली है। जिस प्रकार पिछले दशक में अमरकान्त प्रेमचन्द की परम्परा का ईमानदारी से निर्वाह करने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी प्रकार इस दशक में सुरेश सिनहा ने प्रेमचन्द की यथार्थ-परम्परा का पूर्ण ईमानदारी से निर्वाह किया है और बदले हुए कथ्य एवं कथन को लेकर उसी मानवीय संवेदनशीलता, यथार्थ-परक परिवेश में मानव-मूल्यों को पहचानने तथा चित्रित करने की क्षमता एवं विराट जीवन-बोध को यथार्थ तथा सहानुभूतिपरक संस्पर्श देने की प्रयत्नशीलता प्रकट की है। आधुनिक जीवन के खोखलेपन, कृत्रिमता एवं अजनबीपन, नगरीय जीवन का मृत परिवेश और हास्यास्पद जीवन मूल्यों की भी उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है। सजग सामाजिक चेतना और आस्था ने जीवन जी सकने की क्षमता और वातावरण से ऊपर उठ सकने की समर्थता ही उन्हें प्रदान की है, कुण्ठा एवं निराशा नहीं। उनकी कहानियों में यही निष्ठा एवं संकल्प सशक्तता से अभिव्यक्त हुआ है। नव-मानवतावाद

एवं आधुनिकता का समष्टिगत आधार उन्हें उस नए धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जहाँ उनकी कहानियों में नए मानव-मूल्यों, सम्बन्धों एवं प्रगतिशील मानदण्डों की स्थापना की चेष्टा विकसित होती है। उनकी कहानियों में यथार्थ के नये धरातल का उद्घाटन है, नवीन मूल्यों की स्थापनाएँ हैं और विकृतियों एवं असंगतियों का निर्वैयक्तिक, पर प्रभावशाली, चित्रण है। उनकी प्रत्येक कहानी मन में एक नया विश्वास जगाती है और एक अपूर्व जिजीविषा से प्रेरित करती है। सुरेश सिनहा की स्वाभाविक प्रवृत्ति नएपन की ओर रही है, पर इसे बहुत सहजता एवं सम्प्रेषित ढंग से प्रस्तुत करने की उनकी सफल चेष्टा रही है

सुरेश सिनहा की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता पात्रों का निर्वाह है। वे पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उनकी सूक्ष्म से-सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं का विश्वसनीय (Genuine) चित्रण करते हैं। इधर की 'कई कुहरे', 'मृत्यु और...', 'उदासी के टुकड़े' आदि कहानियों के सन्दर्भ में यह तथ्य स्पष्ट होता है। इन पात्रों को उनकी पूर्ण सहानुभूति तो प्राप्त हुई हैं, पर उससे बड़ी बात पात्रों को उनके यथार्थ परिवेश में समेटने की प्रयत्नशीलता लक्षित होती है, जिनमें युगीन बोध, भाव-विचार और कलात्मक सौष्ठव के साथ जीवन की विराटता का बोध लक्षित होता है। मानव सम्बन्धों की गरिमा की ओर सुरेश सिनहा का विशेष ध्यान रहा है और उन्होंने असन्तुलन में सन्तुलन स्थापित करने की सफल चेष्टा की है—यही उन्हें उनकी पीढ़ी और परम्परा में विशिष्ट स्थान प्रदान करती है। समकालीन जीवन-पद्धति से प्रसूत आधुनिकता के विभिन्न सूत्रों को समेट कर उनके व्यापक सन्दर्भों में मानव की मर्यादा एवं व्यक्ति की निष्ठा का प्रकाशन सुरेश सिनहा की कहानियों का वैशिष्ट्य है। व्यक्ति की गरिमा एवं महिमा के साथ आधुनिक जीवन की नई संक्रान्ति की पहचान उनकी इधर की कहानियों में देखने योग्य है।

१९६० के पश्चात् 'नई' कहानी में व्यापक सामाजिक सन्दर्भों के यथार्थ परिप्रेक्ष्य में अभिनव अर्थवत्ता प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सुरेश सिनहा को हैं। १९६० में जहाँ पिछले दशक के लगभग सभी कहानीकार घोर आत्मपरक दृष्टिकोण को आत्मसात् कर कहानियाँ लिखने लगे थे, और १९६० के पश्चात समूची नई उभरने वाली पीढ़ी उसी आत्मपरकता का अनुसरण करने में लगी हुई थी, वहाँ प्रगतिशील दृष्टिकोण लेकर समष्टिगत चिन्तन के आधार पर सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने की ओर प्रवृत्त होना एक महत्व पूर्ण बात थी और इसमें अकेले होने पर भी सुरेश सिनहा सफल रहे हैं। 'एक आपरिचित दायरा', 'नया जन्म', 'टकराता हुआ आकाश', 'सुबह होने तक', 'तट से छुटे हुए', 'वतन' तथा 'अपरिचित शहर में' आदि सभी कहानियाँ इसी कथन की सत्यता प्रमाणित करती हैं और १९६० के बाद आज की कहानी की नई दिशा का संकेत करती हैं—इस दृष्टि से उनके 'कई कुहरे' कहानी संग्रह का विशेष महत्व है।

'एक अपरिचित दायरा', 'सुबह होने तक', 'तट से छुटे हुए', 'कई कुहरे', 'मृत्यु और......' तथा 'उदासी के टुकड़े' उनकी अब तक की लिखी कहानियों की उपलब्धियाँ हैं।

ज्ञानरंजन भी १९६० के पश्चात् ही उभरे लेखक हैं, पर सुरेश सिनहा के विपरीत में उनकी भावधारा वैयक्तिक चेतना पर आधारित है और अपनी कहानियों में उन्होंने आत्मपरक दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है। 'दिवास्वप्नी', 'खलनायिका और बारूद के फूल', 'अमरूद का पेड़', 'बुद्धिजीवी', 'शेष होते हुए', 'फेन्स के इधर और उधर', 'सम्बन्ध', सीमाएँ' तथा 'पिता' आदि उनकी सभी कहानियाँ व्यष्टि चिंतन का परिणाम हैं जिनमें मध्यवर्गीय जीवन की तथाकथित आधुनिकता एवं विघटित मानव-मूल्यों की ओर संकेत है और उनकी अनुपयोगिता एवं निर्जीविता पर कठोर प्रहार है। ज्ञानरंजन के पास मँजा हुआ शिल्प है और अपनी विभिन्न कहानियों में उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रणालियों से

अपनी बात प्रभावशाली ढंग से कहने की चेष्टा की है। उनमें प्रतिभा भी है और यथार्थ को पहचानने की क्षमता भी। यदि इसका उपयोग वे व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में अपनाकर प्रगतिशील आस्था का स्वर मुखरित करने का प्रयत्न करें, तो निश्चित रूप से वे और भी सफल होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। वास्तव में वे कामू, सार्त्र, काफ़्का से अत्यधिक प्रभावित हैं और एक प्रकार की विचित्र-सी अनास्था एवं घुटन उनकी कहानियों का मूल स्वर बन गई है जिसे बहुत शुभ चिन्ह नहीं कहा जा सकता।

'फ़ेन्स के इधर और उधर' तथा 'सीमाएँ' उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

रवीन्द्र कालिया का दृष्टिकोण भी वैयक्तिक चेतना के अनुरूप है। यद्यपि प्रारम्भ में उन्होंने 'इतवार का एक दिन' आदि कुछ कहानियाँ सामाजिक यथार्थ को लेकर लिखी थीं, जिनमें समकालीन यथार्थ परिवेश को पहचानने की उनकी क्षमता का आभास मिलता है, पर जाने किन कारणों से वे अब आत्मपरक धारा का विश्लेषण करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। 'दफ़्तर', 'नौ साल छोटी पत्नी', 'त्रास', 'क ख ग' आदि उनकी कहानियाँ इसी भाव को स्पष्ट करती हैं। उन्हों आधुनिकता के नगरीय परिवेश को समझा है और उसकी निस्सारता तथा कृत्रिमता को अपनी कई कहानियों में चित्रित करने की चेष्टा की है, पर जीवन की मूल धारा से कटी होने के कारण उन कहानियों का विशेष महत्व नहीं है। वास्तव में रवीन्द्र कालिया के पास अनूठा शिल्प होते हुए भी स्वस्थ जीवन-दृष्टि का अभाव है और अनास्था तथा घुटन उनकी कहानियों का भी मूल स्वर बन गया है। उनमें बड़ी सम्भावनाएँ हैं और अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से कहने की क्षमता भी है। यदि वे जीवन के यथार्थ की ओर इस प्रतिभा को दिशा प्रदान कर सकें, तो निश्चय ही वे और भी अच्छी कहानियाँ लिख सकेंगे।

दूधनाथ सिंह मूलतः आत्म-परक प्रवृत्तियों के कहानीकार हैं। उनके पास सफल शिल्प है। जीवन की मांसलता के प्रति नहीं, उनमें पलायनवादी वृत्तियों से मोह है। अस्वस्थ प्रवृत्तियों, कुंठा, नैराश्य एवं जीवन की विकृतियों मात्र का चित्रण उनकी कहानियों को एकांगी आधार-भूमि प्रदान करता है, जो वांछनीय नहीं है। 'रीछ', 'मम्मी तुम उदास क्यों हो ?', 'रक्तपात' आदि कहानियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। इसी सन्दर्भ में मैं यह कहना चाहता हूँ कि जीवन की मर्यादा और मानव-सम्बन्धों की गरिमा महत्वपूर्ण तथ्य हैं, जिन्हें किसी भी युग की आधुनिकता खण्डित नहीं कर पाती। आधुनिकता परिवर्तन-शील है, पर मर्यादा और गरिमा नहीं। जीवन के विकृत-से-विकृत पक्ष का चित्रण भी मर्यादा की मांग करता है और यही साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष है जो उसे शाश्वत सत्य प्रदान करता है। नई पीढ़ी का इस सत्य के प्रति इतना असावधान होना और एक-पक्षीय आधार रखना किसी भी दृष्टि से शुभ नहीं कहा जा सकता।

महेन्द्र भल्ला पर निर्मल वर्मा का बहुत प्रभाव पड़ा है, पर 'दिन शुरू हो गया है', 'एक पति के नोट्स' आदि कहानियों में उनका अपना व्यक्तित्व बनता दृष्टिगोचर होता है। उनके पास प्रतिभा है और जीवन की विसंगतियों को पहचानने की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि है। उन्होंने कलात्मक सौष्ठव के साथ इन कहानियों में उनका विकास किया है, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। उनमें आधुनिक प्रवृत्तियों का समन्वय भी हुआ है और जीवन के यथार्थ का परिचय भी प्राप्त होता है। उनमें सूक्ष्मता और सांकेतिकता है, यद्यपि यह कहीं-कहीं दुरूह हो जाती है।

इन कहानीकारों के अतिरिक्त १९६० के बाद के दशक में उभरने वाले कुछ प्रमुख-प्रमुख कहानीकारों में श्रीकान्त वर्मा, काशीनाथ सिंह, प्रकाश नगायच, अनीता औलक, विनीता पल्लवी, रामनारायण शुक्ल, प्रयाग शुक्ल, गंगाप्रसाद विमल, धर्मेन्द्र गुप्त, ज्ञान प्रकाश, सुरेन्द्र अरोड़ा,

अनन्त, प्रेम कपूर, से० रा० यात्री तथा जगदीश चतुर्वेदी आदि हैं, जो निरन्तर लिख रहे हैं और एक-से-एक अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं। पर सबसे मेरी शिकायत यही है, और जो प्रत्येक जागरूक पाठक की शिकायत हो सकती है, वह यह कि जाने क्यों ओढ़ी हुई मानसिक कुण्ठाग्रस्तता, अकेलापन, सेक्स और मदिरा के प्रति अतिरिक्त मोह (!) और फलस्वरूप उत्पन्न घुटन, विशृंखलता और अनास्था का स्वर ही उनकी कहानियों में अधिकांशतः मुखरित होता है और बहुधा उनकी कहानियाँ बहुत ही प्रतिक्रियावादी बन जाती हैं। इनमें रामनारायण शुक्ल, से० रा० यात्री, ज्ञान प्रकाश, प्रकाश नगायच, काशीनाथ सिंह, अनन्त तथा धर्मेन्द्र गुप्त अवश्य ही अपवाद हैं, जिन्होंने जीवन-संघर्ष और सामाजिक यथार्थ को अपनाने की ओर आस्था का परिचय देने की भरसक चेष्टा की है, जिसमें पर्याप्त अंशों तक वे सफल भी रहे हैं। पर दूसरे कहानीकारों ने ऐसा प्रतीत होता है कि कामू, काफ़्का और सार्त्र को ही अपना आदर्श मान लिया है और उसी अनास्था और कुंठा भारतीय जीवन-पद्धति के साथ असफल ढंग से सामंजस्य बिठाकर चित्रित करने की चेष्टा कर रहे हैं जिसे बहुत शुभ नहीं कहा जा सकता।

इन लेखकों में जीवन के प्रति निष्ठा नहीं है और न मानव-सम्बन्धों के प्रति कोई मर्यादा का भाव। यह स्मरण रहे कि पीढ़ियों का संघर्ष प्रत्येक युग में होता है, पर उसे आक्रोश, अमर्यादित एवं असंतुलित ढंग तथा असंगत भाषा में अभिव्यक्त करने को साहित्य में कभी वांछनीय नहीं समझा जा सकता। नई पीढ़ी को यह समझना होगा, और प्रौढ़ता की यह माँग भी है, कि व्यक्ति और उसके सम्बन्धों का उद्घाटन पूर्ण सहानुभूति एवं मानवीय संवेदनशीलता के साथ ही किया जाना चाहिए और यह एक ऐसी चीज़ है जिसे किसी काल की आधुनिकता प्रभावित नहीं कर पाती। आधुनिकता का मोह बुरा नहीं है, वरन् समकालीन भारतीय जीवन-पद्धति से प्रसूत आधुनिकता के

विभिन्न सूत्रों का चित्रण अनिवार्य है। इसके प्रति अतिरिक्त आग्रह-शीलता तथा तत्सम्बन्धित सत्य-सूत्रों की उपेक्षा एक ऐसा दुराग्रह है, जो हमें कहीं किसी भी रूप में गतिशील नहीं करती। नई पीढ़ी को अधिक प्रौढ़ बनकर इस बात को समझना होगा।

वैसे यह पीढ़ी अपने दायित्वों के प्रति अधिक सजग है और प्रतिभा की भी कोई कमी नहीं है। यदि वह सामाजिक यथार्थ और जीवन-दृष्टि से अपने को असम्पृक्त करके न चले और अपनी प्रतिबद्धता को यथार्थ जीवन-परिवेश से सम्बद्ध कर ले, तो उसकी सम्भावनाओं के प्रति कोई सन्देह की गुंजायश ही नहीं रह जाती।

अनुक्रमणिका